जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 11 • नवम्बर, 2000

With best compliments from :

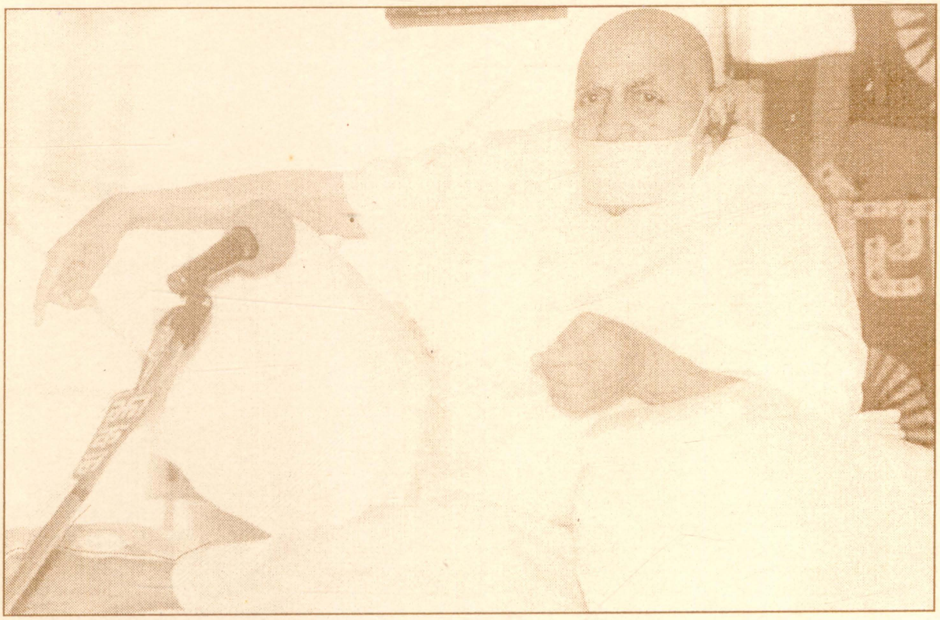

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT-SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बचछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

नवम्बर, 2000 | वर्ष 48 | अंक 11 | रु. 15.00

विमर्श

9
यशदेव शल्य
संस्कृति, शिक्षा और राजनीति

14
प्रो. रघुवंश
भारतीय संस्कृति की मूल्य प्रक्रिया का परात्पर स्तर

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

19
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
व्यक्तित्व विकास की चाबी

23
आचार्यश्री तुलसी
अहिंसा की अर्थवत्ता

26
भोलाभाई पटेल
तेषां दिक्षु

30
मुनि रमेशकुमार
तन-मन की शुद्धि के लिए उपवास

33
समणी भावितप्रज्ञा
आरोग्य की चाबी अपने हाथ

36
डॉ. प्रेम सुमन जैन
स्वाध्याय : ज्ञान की कुंजी

39
कहानी
सुदर्शन
हार-जीत

44
कविता
रमेशचंद्र शाह की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
बड़ा होता कद

शीलन

47
विनोबा
हमारी धर्म-हीनता

49
साध्वी शुभ्रयशा
नशा : काबू पाया जा सकता है

52
बालकथा
राज रानी
नौला भाई

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

धर्म मानवजीवन का नियामक तत्त्व है, पर वह कौन-सा धर्म है? वह धर्म नहीं जो मंदिरों में, मस्जिदों में, गुरुद्वारों में, गिरजाघरों में तथा अन्य देवालयों में पाया जाता है। वह धर्म जीवन-विकास की एक सामान्य प्रक्रिया है, असली धर्म तो मनुष्य के भीतर विद्यमान है। मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओं से बाहर की सारी दुनिया को देखता है, किंतु उसके अंदर जो अनमोल खजाना भरा पड़ा है, उसे देखने के लिए अंतःचक्षुओं को खोलने की आवश्यकता है। वे चक्षु किसी जमाने में खुले थे, आज बंद पड़े हैं, इसीलिए धंधे फलफूल रहे हैं और धर्म का बिरवा सूख रहा है। आदमी भटक रहा है। उसे अपनी मंजिल दिखाई नहीं देती। यह नहीं कि धर्म अब नहीं रहा, लेकिन उसका स्वरूप बदल गया है।

धर्म तब वह था, जो जीवन को धारण करता था, अर्थात् मानवजीवन सादगी, सात्विकता तथा पारस्परिक भ्रातृभाव की धुरी पर घूमता था। धर्म तब प्रेम का पर्याय था। मनुष्य का विवेक तब इतना जागृत था कि वह अपने भीतर घृणा, द्वेष, विद्वेष, विग्रह आदि को टिकने नहीं देता था। किसी ओर से भी कराह आती थी तो वह उसी ओर दौड़ पड़ता था। उस का कर्तव्य था कि वह दूसरों के काम आए।

—यशपाल जैन

'मानवता के रजत कण' से

संगठन व्यावहारिक होता है। व्यवहार की स्थिति का अनुमापन व्यवहार से ही होता है। वहां विचारों पर अंकुश नहीं लगता, किंतु एकरूपता में खलल डालने वाले विचार पर नियंत्रण अवश्य होता है। इसे भले ही संगठन की दुर्बलता माना जाए। पर यह किसी एक व्यक्ति की दुर्बलता नहीं है। जिन्होंने संगठन करना चाहा है, उन्होंने यह भी चाहा है कि हम एकरूप रहें। इस एकरूपता की चाह में से ही यह तत्त्व प्रकट होता है कि उसमें बाधा डालने वाले विचारों पर नियंत्रण रहे। साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कोरी एकरूपता भी अभीष्ट नहीं है। मूल सूखने लगे तब ऊपरी सौंदर्य का मूल्य ही क्या है और वह टिकता भी कब है? सत्य, आचार और संयम की निष्ठा बनी रहे, उसी स्थिति में संगठन का महत्त्व है और उसी स्थिति में इसका महत्त्व है कि साधारण-सी बातों को लेकर अनेकता का बीज न बोया जाए। कोई नया विचार आए तो उसका प्रयोग संघ या संघपति—जहां निर्णयकर्ता केंद्रित हो, उन्हीं की स्वीकृति से किया जाए।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

धर्म-संप्रदायों में अनुशासन लाने के लिए क्या करना चाहिए? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में कई प्रयोग सामने आ सकते हैं। मेरे अभिमत से पहला प्रयोग होना चाहिए आध्यात्मिक संस्कारों के जागरण का। इसके लिए केवल उपदेश कार्यकारी नहीं हो सकेगा। उपदेश और मार्गदर्शन के साथ प्रयोगात्मक दृष्टि से कुछ व्यक्तियों का चुनाव कर परीक्षण करना चाहिए।

दूसरा तत्त्व है अनुशासन में शक्ति प्रयोग। धर्म के क्षेत्र में हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत बहुत ऊंचा है। पर अनुशासन की दृष्टि से शक्तिहीन नेतृत्व सफल नहीं हो सकता। इसलिए एक सीमा तक अनुशासन में शक्ति का उपयोग अवांछनीय नहीं है।

नीति की अस्थिरता अनुशासनहीनता को जन्म देती है। धर्मसंघ के अधिनेता को अपनी नीतियां स्पष्ट, स्थिर और निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत करनी चाहिए। किसी भी विवादास्पद विषय पर उनका निष्पक्ष निर्णय शिष्यों में आस्था और अनुशासन के भाव पैदा करता है।

—आचार्यश्री तुलसी

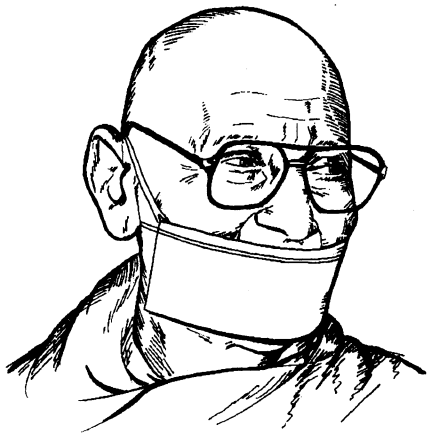

हमारी अंतिम मंजिल है आत्मा। जो धार्मिक है, आत्मवादी है, उसका गंतव्य है आत्मा को जानना, आत्मा को उपलब्ध होना। किंतु उस तक पहुंचने की यात्रा बहुत लंबी है। पहले हम शरीर को पार करें, उसके बाद मन और बुद्धि को पार करें। इतना होने के बाद कहीं आत्मा की बात समझ में आती है। आत्मा को समझने के बाद जीवन का दर्शन बदलता है, दृष्टिकोण बदलता है। यह बात समझ में आती है—जो पुराने संस्कार हैं, वृत्तियां हैं, उनका उन्मूलन किया जा सकता है। महावीर ने कहा—आग लकड़ियों को जलाती है। लकड़ी गीली होती है तो जलने में थोड़ा समय लगता है और लकड़ी सूखी होती है तो वे तत्काल जल जाती हैं। जो व्यक्ति आत्म-समाधि को प्राप्त हो गया, वह अनासक्त है, उसके कहीं भी स्नेह का लेप अवशेष नहीं है। ऐसा व्यक्ति कर्म को जला डालता है, संस्कारों को समाप्त कर देता है। संस्कारों को वही व्यक्ति समाप्त कर सकता है जो आत्म-समाधि में चला जाता है।

आदतों को बदलने का, मौलिक मनोवृत्तियों के परिष्कार का सबसे अधिक विश्वसनीय और महत्त्वपूर्ण उपाय है—निर्विकल्प समाधि। जब आदमी शुक्लध्यान की अवस्था में पहुंचता है, एक साथ वृत्तियों का जलना शुरू हो जाता है। शुक्लध्यान की अवस्था निर्विकल्प समाधि की अवस्था है। जब तक चिंतन और विचार चलता है, तब तक साधना में जितना तेज आना चाहिए उतना तेज नहीं आ पाता। मानसिक विचार की भूमिका में बहुत कुछ प्राप्त होता है, पर बहुत सारी बातें छूट जाती हैं। इस अवस्था में कुछ उपलब्ध होता है, किंतु मूल बात प्राप्त नहीं होती। मानसिक विचार की अवस्था में निर्मूल नाश की स्थिति प्राप्त नहीं होती। निर्विचार अवस्था में ही संस्कारों का जड़ से उन्मूलन होता है, कोई आदत बच नहीं पाती, वृत्तियों का सफाया हो जाता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

बड़ा होता कद

हर बार यह 'कद' बड़ा हो जाता है। बहुत गुमान के साथ ढिंढोरा पीटा जाता है कि इस बार 'रावण' सत्तर फुट का बनाया जा रहा है, पिछले वर्ष यह पैंसठ फुट ही था। कहीं पैंसठ से सत्तर तो कहीं साठ से पैंसठ या अस्सी, 'कद' हर बार 'रावण' का ही बढ़ता है। जब-जब भी यह बात सुनने-पढ़ने को मिलती है तो मन 'बैठ' जाता है, ऐसा अवसाद भीतर उठने लगता है कि कुछ कहते नहीं बनता। जो लोग 'रावण' को भस्म करते हैं वे बड़े उत्साह में नजर आते हैं। इसलिए कि उनका 'रावण' दूसरे से 'बड़ा' था। अगले वर्ष फिर और बड़ा बनेगा-बनाएंगे।

'रावण' बुराइयों पर भलाई का, असद् पर सद् की विजय का प्रतीक है। मन इसीलिए 'बैठ' जाता है कि वह हर बार 'बड़ा' होता जाता है। यह 'सद्' पर असद् की विजय हुई या इसके उलट, क्योंकि बड़ा हर बार 'रावण' ही होता रहा है। प्रतीक रूप में जल रहा 'रावण' हर बार 'असद्' का अपना कद थोड़ा बढ़ा लेता है और जो भी उसे भस्म करते हैं—वे प्रसन्न मुद्रा में देखे जाते हैं। शासन से लेकर समाजोद्धारक तक सभी खुशी-खुशी इसके सहभागी बनते हैं, बनते रहे हैं।

यह कैसी विजय है—असद् पर सद् की, और कैसे ऐसा कर हम खुशियां बटोर रहे होते हैं? जिस 'प्रतीक' रावण को भस्म करते हैं, उसी धुएं में से असल 'असद्' वास्तव में सिर ऊंचा उठा रहा होता है। तो क्या हम, शासन और समाज महज प्रतीक रूप में ही बुराइयों का ध्वंस चाहते हैं और वास्तविक रूप में इनके फलते-फूलते जाने को नजरअंदाज करने का स्वभाव पालते हैं? अब तक यही प्रतीत हो रहा है। उदाहरण गिनाने की जरूरत नहीं। सत्ता के शीर्ष से लेकर समाज के हर कोने में यह सब देखने को मिल जाएगा। आखिर यह कैसी प्रवंचना है कि 'रावण' जलता नहीं, उस आग में फिर निखर कर उभरता है।

पर तब भी असद् से नहीं, अभिप्रेरणा सदा 'सद्' से ही पाई जा सकती है। दुर्भाग्य केवल यह है कि 'सद्' पंगु है—पगलाया है। इसे शक्ति और सामर्थ्य देता है धर्म और अध्यात्म। तो क्या हर बार 'रावण' के बढ़ते कद के चलते यह माना जाए कि 'धर्म' ही शक्तिहीन हो रहा है, अपनी सामर्थ्य खो रहा है? किन्हीं अंशों तक यह कड़वा सच कबूल करना होगा। जब तक हकीकत से दो-चार नहीं हुआ जाएगा तब तक वह तलाश भी शुरू नहीं होगी कि खोई हुई शक्ति फिर से कैसे पाई जाए, जो सामर्थ्य चुक गया है वह कैसे हासिल हो?

कोई भी ऋषि-महर्षि ऐसा नहीं जो बुराइयों के शमन और सद्-आचार, सद्-विचार के विकास में मतभेद रखता हो। मतांतर होते हुए भी बुनियादी मुद्दों पर सभी का मतैक्य है। इन्हें खंगालने और व्यवहार के स्तर पर जीवनवृत्त का हिस्सा बनाने की जरूरत है। धर्म, बल्कि कहना चाहिए 'पंथ' के कर्मकांड से 'धर्म' को थोड़ा मुक्त कर उसके असली स्वरूप को पुनर्व्याख्यायित करने की जरूरत है। मिथ्या आग्रहों और पर-दोष से मुक्त होने की जरूरत है। महावीर हो या महर्षि वेदव्यास या बुद्ध–गांधी—सभी इसी मत के हैं। महावीर की तो साधु की परिभाषा भी बड़ी व्यापक है। वे कहते हैं—'अणुवीई भासई से निग्गंथे–जो पूर्णतया चिंतनपूर्वक बोलता है, वही साधु है।' विचारों की यह विशालता हर स्तर पर आवश्यक है। महावीर समाज को सचेत भी करते हैं, कहते हैं—'मिच्छंत्ताहिनिवेसेणं–व्यर्थ के विवादों से गुणों का नाश होता है।' इसी तरह वे यह भी कहते हैं—'माणेणं अहमा गई–अभिमान से अधःपतन होता है।'

ये सुभाषित किसी धर्म या पंथ की हदों में नहीं जकड़े जा सकते, ये मार्गदर्शक सूक्त हैं जिन पर चलकर व्यक्ति न केवल अपना, अपने समाज का भी भला कर सकता है। जिस 'रावण' को बुराई का प्रतीक मान लिया गया, यदि उपरोक्त मंतव्य को ही सामने रखें तो लगेगा कि बुनियादी तौर पर ये ही कुछ बातें रहीं कि रावण का अधःपतन हुआ।

दरअसल आज बुनियादी मुद्दे ही गौण हो रहे हैं और इसी वजह से शासन और समाज विपन्न अवस्था में पहुंचता जा रहा है। जो सिद्धांत हैं—उन्हें दरकिनार किया जा रहा है और संकरे गलियारों को 'राजपथ' बनाया जा रहा है। तात्कालिक उपायों पर तरजीह देने के ही प्रतिफल हैं कि बुनियाद की 'चूलें' हिलने लगी हैं। रावण को भस्म कर बुराइयों पर विजय पा लेने का वहम यही तो है। इसी वहम से मुक्त होने की जरूरत है और इसके लिए आवश्यक है कि सिद्धांतों की एवज में 'तात्कालिक व्यूह रचना' की ओर बढ़ते जा रहे झुकाव को समाप्त किया जाए।

आज अधिकांश समस्याओं और विषमताओं के मूल में तात्कालिक उपायों का मायाजाल है। मायाजाल के इस फंदे को काटना आवश्यक है और जिस अस्त्र से यह फंदा आसानी से काटा जा सकता है, वह अध्यात्म ही हो सकता है। मनीषी-दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस दिशा में जो सम्यक् चिंतन प्रस्तुत कर रहे हैं–वह व्यापक स्तर पर सहायक सिद्ध हो सकता है। वे तो लोकतंत्र की असफलता में भी अध्यात्म की भूमिका का अभाव ही देखते हैं। गांधी भी ऐसी राज्य व्यवस्था के ही हामी रहे हैं। बेशक, लोकतंत्र में 'लोक' ही सर्वोपरि है, पर राज्यसत्ता का प्रभाव और भूमिका सर्वत्र और अपरिमित है, अतः प्रमुखतः राज्यसत्ता के स्वभाव और उसकी प्रक्रिया में अध्यात्म का समावेश आवश्यक है। यही एकमात्र उपाय है जिससे 'रावण' के कद को बढ़ने से रोका जा सकता है। हम आशा करें कि यह 'कद' अब घटेगा!

दीर्घ-दिव्य तपस्विनी साध्वी पन्नाजी अब सदेह नहीं हैं। देहातीत तो उसी क्षण वे हो गईं जब लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप (19 जुलाई, 2000) की आराधना ग्रहण की। लोकमन में इस तप की पूर्णाहुति 22 जनवरी, 2001 को होती, पर उनकी संकल्प सिद्धि और उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रबलता 'लोक' और 'काल' की सीमा में कब आबद्ध होते? नियति को संभवतः यही परचम फहराना था कि यह महायोगिनी तो कालातीत हैं। तभी 18 अक्टूबर 2000 को सायंकाल संथारा ग्रहण कर 19 अक्टूबर के उषाकाल (प्रातः 5.40 बजे) में उनकी तपाराधना स्वतः संपन्न हो गई। 'काल' से मुक्त इस महायोगिनी को शतशः नमन्।

लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप की आराधना कराते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने साध्वी पन्नाजी के प्रति जो भावाभिव्यक्ति की थी—

पन्ना दीर्घतपस्विनी, तप का प्रवर प्रकाश।
पन्ना दिव्य तपस्विनी, खुले नया आकाश।।

शासन की सुषमा बढ़े, जागे तप की शक्ति।
ज्ञान तपोमय संघ में, हो सबकी अनुरक्ति।।

साध्वी पन्नाजी का लक्ष्य इन्हीं भावों का चरमोत्कर्ष रहा और उनका महाप्रयाण हुआ। पुनः नमन।

—शुभू पटवा

जैनभारती के सितंबर व अक्टूबर अंकों में साध्वी पन्नाजी पर प्रकाशित सामग्री का पाठक पुनरावलोकन कर सकते हैं—सं

विमर्श

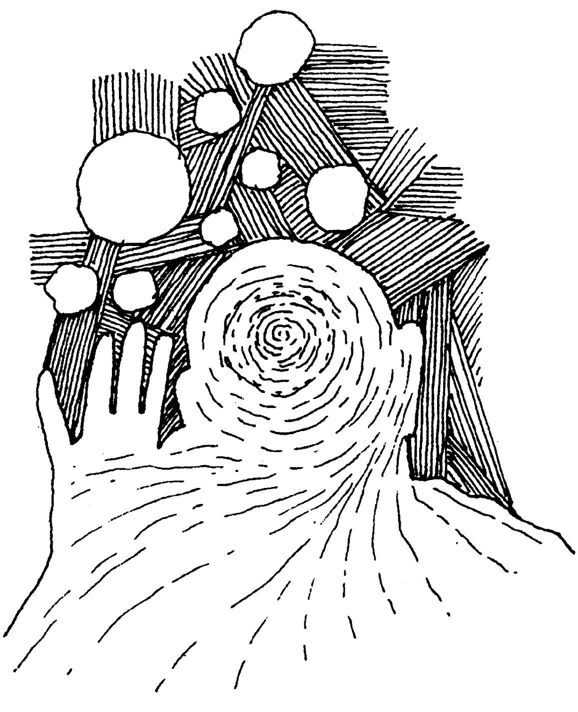

हिंदुस्तान के लोग दुनिया के सबसे ज्यादा उदास लोग हैं। एक और उतना ही बड़ा कारण यह भी है कि उनके मन में, खास कर इतिहास के पिछले काल में, खास तरह का झुकाव आ गया। वे दुनिया से अलग रहने का दर्शन मानते हैं जो तर्क में और अंतर्दृष्टि में बहुत ऊंचा है, लेकिन व्यवहार में वे जिंदगी से बुरी तरह चिपके रहते हैं। जिंदगी से उनका मोह इतना ज्यादा होता है कि किसी कोशिश में अपने को खतरे में डालने के बजाय गरीबी और कष्ट की बुरी हालत में पड़े रहना पसंद करते हैं। और शक्ति के लोभ का प्रदर्शन इनसे ज्यादा दुनिया में कहीं और नहीं होता। मुझे यकीन है कि वर्णों और स्त्रियों के कटघरे आत्मा के इस पतन के लिए बुनियादी तौर पर जिम्मेदार हैं। इन कटघरों में इतनी ताकत है कि ये जोखिम उठाने और खुशी हासिल करने की सारी ताकत को खत्म कर दें।

—**डॉ. राममनोहर लोहिया**

आज राज्यिकीय रूप से अवश्य भारत एक है, जितना भी विस्तार इसका शेष बचा है, किंतु सांस्कृतिक, दूसरे शब्दों में मानसिक और आध्यात्मिक रूप से यह खंड-खंड हो चुका है और आगे यह निरंतर हो रहा है। क्या कारण है कि एक ही राज्यशासन के अधीन एकीकृत होने से पहले जो देश लगभग एक था, जिसमें मुसलमान भी क्रमशः समीकृत हो रहे थे, वह देश एक राज्यशासन के अधीन मानसिक और आध्यात्मिक रूप से क्रमशः बंट गया और स्वतंत्रता के बाद यह आगे और बंटता चला जा रहा है?

◆ यशदेव शल्य

संस्कृति, शिक्षा और राजनीति

मनुष्य का सामाजिक व्यवहार अधिकांशतः स्वार्थमूलक उपयोगिताओं से नियोजित होता है, यद्यपि यह साधारणतः विधि-निषेधों के दो तटों के बीच ही प्रवाहित होता है, जो सार्वजनिक हिताहित की विचार-परंपरा से निर्मित होते हैं। किंतु इन विधि-निषेधों के प्रति उसकी कोई प्रतिबद्धता नहीं होती, वह यथावसर इनका उल्लंघन भी करता रहता है, यह जानते हुए कि ऐसा वह अनुचित कर रहा है। विधि-निषेधों के ये तट सामाजिक परंपरा कहे जा सकते हैं। इनका मूल अंततः समाज की उस तत्त्व-दृष्टि में होता है जो उस समाज की सांस्कृतिक परंपरा की आधार होती है। 'सामाजिक परंपरा' और 'सांस्कृतिक परंपरा' में यह भेद है कि प्रथम परंपरा येन-केन-प्रकारेण अस्तित्व में आए व्यवहार के नियमों से निर्मित होती है जो रूढ़ि बन जाते हैं, हालांकि इनका रूप-गुण समाज की उस चेतना से ही निर्धारित होता है जिसे उस समाज की सांस्कृतिक दृष्टि कहा जाता है। इसके विपरीत : सांस्कृतिक परंपरा सृजनात्मक विचार और आत्मपरामर्श की परंपरा होती है, किंतु यह परंपरा किसी समाज के इतिहास में सतत प्रवहमान नहीं रहती, इसमें अवरोध के सुदीर्घ अंतराल भी आते हैं और पुनः गतिमानता के युग भी। इन अवरोधों और अवरोध-भंगों के क्या कारण रहते हैं, इस पर यहां विचार अवांतर होगा, किंतु ऐसा होता है, यह निर्विवाद है। ये अवरोध और अवरोधभंग सामाजिक रूढ़ियों में भी परिलक्षित होते हैं। सांस्कृतिक अवरोध-भंग के युगों में सामाजिक रूढ़ियां भी आलोच्य बनती हैं और इससे उनमें भी परिवर्तन घटित होते हैं। कई बार इसके विपरीत सामाजिक रूढ़ियों में आ गई सड़ांध की प्रतिक्रिया भी सांस्कृतिक अवरोध-भंग और गतिशीलता की कारण बनती है और तब सामाजिक आत्मालोचन सांस्कृतिक आत्मालोचन को भी प्रेरित करता है। कोई समाज सजीव है, इसका पता अवरोध-भंगों से विशेष चलता है, किंतु सामाजिक रूढ़ियों का भंग सांस्कृतिक क्षय से भी होता है और वह सामाजिक विशृंखलता का हेतु बनता है। सामाजिक क्षय का यह रूप सांस्कृतिक तंद्रा-जन्य क्षय से अधिक भयावह होता है क्योंकि यह सन्निपात या स्नायविक ज्वर जैसी स्थिति है।

हम मानव-व्यक्तियों के अनेक रूप और अनेक स्तर देखते हैं, जबकि कुछ व्यक्ति दैहिक-ऐंद्रिय अर्थों तक सीमित मिलते हैं और इस प्रकार आजीविकोपार्जन आदि में ही व्यस्त रहते हैं; दूसरे कला, विज्ञान, दर्शन या अध्यात्म-साधना आदि के उच्च शिखरों पर आरूढ़ दिखाई देते हैं। ये चेतना के ही विकास के रूप और सोपान हैं। विकास के ये ही सोपान सहस्रों वर्षों से आदिम स्तर पर रुकी सभ्यताओं से लेकर अंतःप्रज्ञा और संबोधि के आर्ष शिखरों पर आरूढ़ अथवा यंत्र-कौशल से ग्रहों-नक्षत्रों तक विचरण करती सभ्यताओं के रूप में लक्षित होते हैं। किंतु इस विकास से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण चेतना में एक और आयाम का विकास है जो अन्य आयामों और विकासों का मूल्यांकन करता है। इसे विवेक कहते हैं—सदसद् का विवेक, युक्तायुक्त का विवेक, उच्चावच का विवेक। इस विवेक का विषय बाह्य नहीं होकर स्वयं अपनी ही प्रवृत्तियां और अभीप्साएं होने से दैहिक के अतिरिक्त चेतना का अन्य कोई भी आयाम देखने में असमर्थ लोग इसे निराधार और कल्पना मात्र मानते हैं। किंतु यह

विवेक उसी चेतना में उद्‌भूत होता है जिससे उपकरण, यंत्र और भवन आदि उद्‌भूत होते हैं और जिसमें इनके निर्माण का तर्क उद्‌भूत होता है। इस तरह या तो यह संपूर्ण मनुष्य-रचित लोक ही कल्पना है या यह विवेक भी कल्पना नहीं है, यह वास्तविक पहचान है। इस पहचान में गलती हो सकती है और इसके विकास के स्तरों में भी भेद हो सकता है, किंतु यह पहचान, विवेक की योग्यता, चेतना की उतनी ही वास्तविक उपलब्धि है जितनी वास्तविक यंत्र-विज्ञानपरक उपलब्धियां। केवल यह उपलब्धि अधिक आधारभूत और इसकी प्रामाणिकता अधिक दुस्साध्य होती है, क्योंकि इसका विषय उस मनुष्य का अपने स्वरूप का अनुसंधान और अपनी वृत्तियों का नियोजन होता है जो यंत्रों का निर्माण करता है और साधन-संपदा का संग्रह करता है। सब साधन-संपत्, सब यंत्र और उपकरण तब व्यर्थ या विपरीत हो सकते हैं यदि वे मनुष्य की उस अभीप्सा के विपरीत हों जिसकी पूर्ति के लिए वह इनका आयोजन और संग्रह करता है और स्वयं यह अभीप्सा भी अपने स्वयं के विपरीत हो सकती है। कलिंग-विजय के बाद अशोक ने यह जाना था। इसी आधारभूत विवेक में प्रतिष्ठित होकर यंत्र-विज्ञान को मनुष्य की महानतम उपलब्धि मानने वाली सभ्यता को गांधीजी ने चेताया था। किंतु कौन-सी अभीप्सा यथा-अर्थ है और कौन-सी अयथा-अर्थ, यह मनुष्य के लिए सहजगम्य नहीं होता। यह परम गुह्य तत्त्व है और विवेक के लिए सबसे बड़ी चुनौती। किंतु विवेक की यह चूक मनुष्य के लिए बड़ी महंगी हो सकती है क्योंकि यह उसके संपूर्ण जीवन ही को लक्ष्य-भ्रष्ट रख सकती है। अब, व्यक्ति-जीवन जहां प्रायः ही इस प्रश्न को टालकर प्रवृत्त रहता है, संस्कृतियां इसी प्रश्न के साथ प्रवृत्त होती हैं और इसके उत्तर का अनुसंधान करती हैं। वास्तव में विभिन्न संस्कृतियों को यथा-अर्थ अभीप्सा के अनुसंधान के विभिन्न प्रयोग और प्रयत्न भी कहा जा सकता है। इन प्रयोगों में कौन-सा सही है या गलत है अथवा अधिक सही है या कम सही है, यह निर्णय करना उतना दुष्कर नहीं होने पर भी जितना यह प्रतीत होता है, इस कारण तो दुष्कर होता ही है कि इसके तर्क को देख पाने की दृष्टि अन्न-प्राण-मनोमय कोशों के विज्ञानमय कोशाभिमुख होने की अपेक्षा रखती है, जो अभिमुखीनता अत्यंत दुस्साध्य है।

यहां यह ध्यातव्य है कि यद्यपि संस्कृतियां परिभाषित अपनी तत्त्व-दृष्टि या कहें परमार्थ-दृष्टि से ही होती हैं, किंतु वे उतनी मात्र नहीं होतीं, क्योंकि उनका अस्तित्व मनोमयस्तरीय होता है और उस स्तर का आत्मविमर्श भी, ऊर्ध्वाभिमुख नहीं रहने पर भी, सांस्कृतिक ही होता है। इस प्रकार शास्त्र, साहित्य और कलाएं इसी की अंग होती हैं, यदि वे अन्न-प्राणमय कोशाभिमुख होती हैं तो भी। काव्य और कलाओं में बहुत बार ऐसी वृत्ति देखी जाती है। इनमें काम और अर्थ का विमर्श अधिकांशतः पौरुषिक अर्थता को खोकर अपुरुषोचित अर्थान्वेषी हो जाता है। इसे आप अपसंस्कृति कह सकते हैं, किंतु परिगणित यह संस्कृति के अंतर्गत ही होता है। हमारे इतिहास में काव्य और कलाओं में तो बहुत बार ऐसे चरण आए हैं, धर्म और दर्शन में भी आए हैं, तंत्र के कुछ संप्रदाय और वाम मार्ग इसके उदाहरण रूप में देखे जा सकते हैं। इधर पश्चिम के कला-क्षेत्रों में यह दृष्टि या दृष्टिहीनता पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित हो रही है और उसके पीछे वैसी तत्त्व-दृष्टि का समर्थन भी है। उदाहरणतः अभी पीछे इंग्लैंड की एक चित्रकला प्रदर्शनी में प्रयुक्त कांडोम और मैथुन के रक्त और वीर्य से लिथड़ी चादरें कला-कृतियों के रूप में रखी गई थीं। इसे वे 'कला में याथार्थ्य' कहते हैं, जो उनके यथार्थ विषयक सिद्धांत का कला में अनुवाद है। इसके उदाहरण सिनेमा में भी भरपूर देखने को मिलते हैं। किंतु द्रष्टव्य है कि पाश्चात्य कला में ये प्रवृत्तियां भारतीय कला और धर्म में ऐसी प्रवृत्तियों के अनुरूप नहीं हैं बल्कि उनसे आधारभूत रूप में भिन्न हैं। भारत में जबकि इनके पीछे अध्यात्म दृष्टि का ही विकृतीकरण या अपक्षय था, पश्चिम में यह अध्यात्म दृष्टि के भौतिक दृष्टि के पक्ष में परित्याग का परिणाम है। इसलिए भारतीय वाम मार्ग जबकि अध्यात्म दृष्टिविषयक प्रयोग है, यद्यपि भ्रांत प्रयोग ही, पाश्चात्य वाममार्ग उस संस्कृति में वाममार्ग ही नहीं है बल्कि उसकी सांस्कृतिक दृष्टि की एक स्वाभाविक तार्किक परिणति है—हालांकि निश्चय ही अनेक संभाव्य तार्किक परिणतियों में से केवल एक संभव तार्किक परिणति। किंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि मनुष्य अपनी समग्रता में किसी एक सांस्कृतिक दृष्टि में निश्शेष नहीं होता। वह उसके आदर्श से न्यून और उसकी एकांगिता से बहुत अधिक होता है। उदाहरणतः भारत में वेदांती सब से अधिक विषयानुरक्त प्रसिद्ध हैं और यूरोप में भौतिकवाद-व्यवसायवाद के अनेक अपवाद मिलते हैं। इसी प्रकार, कोई भौतिकवाद का होते हुए भी बहुत स्नेहशील या नैतिक हो सकता है। किंतु तब भी प्रत्येक समाज के, रूप और गुण, उसकी प्रवृत्तियां और अभिनिवेश, उसकी संस्कृति अर्थात् उसकी तत्त्व-दृष्टि और पुरुषार्थ विषयक बोध, से ही निर्धारित होते हैं और उसी के अनुसार उसकी असफलताएं, विकृतियां और पथ-भ्रष्टताएं होती हैं। इस बोध-परंपरा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करके समाज

अस्मितावान होते हैं। निश्चय ही समाज बहुत से अन्य प्रतीकों के साथ तादात्म्य के द्वारा भी अस्मितावान होते हैं, जैसे भू-खंड, गुरु या धर्म-प्रवर्तक या सामुदायिक नाम आदि के साथ, किंतु यह अस्मिता का निम्न स्तर है, वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति देह के साथ अपना तादात्म्य देखे। अधिकांश व्यक्ति तो अधिकांशतः देह या चित्त के साथ अपना तादात्म्य देखते हैं। किंतु यह आत्मा का अस्थाने दर्शन है, कुछ व्यक्ति यह देख पाते हैं और अन्य व्यक्ति उनमें विश्वास कर, उन्हें आदर्श रूप में स्थापित कर अपनी अज्ञता को मानते हैं। महात्मा गांधी ने भारत की आत्मा जिसमें देखी, श्री अरविंद या विवेकानंद ने जिसमें देखी या श्री रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि ने जिसमें देखी, हम-आप लोग उसमें नहीं देखते हैं। स्वतंत्रता-संग्राम-काल में इस आत्मा का 'भारत माता' के रूप में मूर्तीकरण हुआ और अधिकांश ने इसे भौगोलिक क्षेत्र का ही मूर्तीकरण माना। प्रायः सभी अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं से भी गहरे में अवश्य जुड़े होते हैं और उनमें अपनी आत्मा का आधान करते हैं, जैसे राम और कृष्ण, वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास और तुलसीदास एक सामान्य भारतीय के मानस में एक सहज आत्मीयता जगाते हैं, उनकी बात अपनी बात लगती है, उनके संबंध में अपशब्द हमें हमारे अपने संबंध में अपशब्द लगते हैं और ये केवल नाम नहीं हैं बल्कि विशाल और गंभीर अर्थों से गर्भित प्रतीक हैं। यह आत्मीयता हमारी सामाजिक आत्मा की द्योतक होती है।

यहां कहा जा सकता है कि यह बात हमारे मुस्लिम और ईसाई संप्रदायों के संबंध में नहीं कही जा सकती, न ही यह बात 'आधुनिक' कहे जाने वाले बहुत बड़े हिंदू समुदाय के लिए कही जा सकती है और न ही राजनीतिक नारों से उकसे हिंदुओं के असवर्ण समुदाय के लिए कही जा सकती है। यह सही है, किंतु यह स्थिति इस बात की ही द्योतक है कि भारत अब एक समाज की संज्ञा नहीं है, केवल एक राजनीतिक भूखंड की संज्ञा है। अंग्रेज हमारे पर अहसान जताते हैं कि उन्होंने हमें एक अखिल भारतीय सरकार दी और हमारे विश्वविद्यालयों में अपशिक्षित बहुत-से भारतीय भी यह समझते हैं कि भारत को एकता तो अंग्रेजों ने ही दी है, उससे पहले भारत कोई एक देश नहीं था, छोटे-छोटे रजवाड़ों का समूह था। किंतु वे यह नहीं देख पाते कि भारत वास्तव में तभी एक था, आज वह एक नहीं है, बल्कि तब इसका भौगोलिक विस्तार बहुत अधिक था और इसकी एकता बहुत वास्तविक थी। केवल वह एकता सांस्कृतिक थी, राज्यिकीय नहीं थी। आज राज्यिकीय रूप से अवश्य भारत एक है, जितना भी विस्तार इसका शेष बचा है, किंतु सांस्कृतिक, दूसरे शब्दों में मानसिक और आध्यात्मिक रूप से यह खंड-खंड हो चुका है और आगे यह निरंतर हो रहा है। क्या कारण है कि एक ही राज्यशासन के अधीन एकीकृत होने से पहले जो देश लगभग एक था, जिसमें मुसलमान भी क्रमशः समीकृत हो रहे थे, वह देश एक राज्यशासन के अधीन मानसिक और आध्यात्मिक रूप से क्रमशः बंट गया और स्वतंत्रता के बाद यह आगे और बंटता चला जा रहा है?

यहां कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि हम केवल हिंदू-संस्कृति को ही देश की संस्कृति मानकर चल रहे हैं, जबकि इस देश की कोई एक संस्कृति नहीं है। इसे वे लोग 'अनेकता में एकता' और 'गंगा-यमुनी संस्कृति' जैसे नाम भी देते हैं। यह बहुत भ्रांतिपूर्ण है। सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि मुस्लिम शासन-काल में भी बहुत-से मुसलमानों ने ब्रजभाषा में कविता करते हुए हिंदू-सांस्कृतिक परंपरा में ही नहीं बल्कि कृष्ण-भक्ति-परंपरा में भी काव्य-रचना की थी। पाकिस्तान-समर्थक बनने से पहले मुहम्मद इकबाल ने राम की स्तुति में कविता लिखी थी और न केवल 'हिंदोस्तान को सारे जहां से अच्छा' कहते हुए गीत लिखा था बल्कि विश्वविजयी इस्लाम के 'गंगा के दहाने में डूबने' की बात भी कही थी। इसी प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत के एक से एक उत्कृष्ट मुस्लिम गायक हिंदू-देवी-देवताओं का स्तुति-गान करते संकोच नहीं करते। ये सब कोई कम मुस्लिम या मुस्लिम-द्रोही नहीं हैं। भारतीय मुसलमान या ईसाई धर्मनिष्ठ मुस्लिम या ईसाई रहते हुए भी भारतीय परंपरा में उसी प्रकार सम्मिलित हो सकते हैं जिस प्रकार चीन या जापान आदि के बौद्ध चीनी, जापानी आदि सांस्कृतिक परंपराओं में सम्मिलित हैं। अन्यथा आज तो कुछ सिक्ख और कुछ पिछड़ी जातियों के कहे जाने वाले हिंदू भी अपने को अहिंदू घोषित कर रहे हैं। इधर तो अल्पसंख्यक आयोग ने जैनों को भी अल्पसंख्यक घोषित कर हिंदुओं से अलग करने का प्रयत्न किया था, जिसे जैनों ने अस्वीकार कर दिया। मुसलमानों और ईसाइयों के संबंध में यह तर्क दिया जाता है कि उन धर्मों के मूल सिद्धांत में ही अन्य धर्मों की वैधता का अस्वीकार घोषित है। यह सही है और यह दुर्भाग्य की बात है, किंतु उन धर्मों में और बहुत कुछ भी है जो मनुष्य को उदात्त बनाता है। वास्तव में किसी भी धर्म में ऐसी प्रतिपत्तियां आनुषंगिक होती हैं, मूलगामी नहीं होतीं। इसी कारण रहीम, रसखान, जायसी, इकबाल और नजरूल इस्लाम, बड़े गुलाम अली खां या बिस्मिल्ला खां, सरहद्दी गांधी या मौलाना आजाद किसी से कम मुसलमान नहीं थे।

यहां यह ध्यातव्य है कि कोई सही अर्थों में मार्क्सवादी होने पर बौद्ध, जैन, वैष्णव या सिक्ख नहीं हो सकता, किंतु वह हिंदू हो सकता है, होता ही है। यहां संक्षेप में हिंदू की परिभाषा करना स्थाने होगा। यह परिभाषा निम्न श्लोक में सर्वोत्तम रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

श्रुतयोऽपि भिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य मतः प्रमाणम्
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः सः पंथाः।

पर महाजन तो श्रुतिकार और स्मृतिकार भी हैं और कुछ अधिक ही महान हैं और तब वे या दूसरे भी महाजन किसी एक ही पंथ से नहीं गए, तब उनके गमन का पंथ कहां से मिलेगा? ऐसे में एक ही बात शेष रह जाती है और वह है कि धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है, गुहा अर्थात् आत्मा का अतल। इसी से अंतिम और परं उपदेश है—आत्मपूतं समाचरेत्। इसलिए कहा जा सकता है कि वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिक्खं आदि ही हिंदू नहीं हैं, मुसलमान, ईसाई, जरथुस्त्री आदि भी हो सकते हैं—अपने-अपने संप्रदायों में रहते हुए ही, यदि वे केवल इस उदार दृष्टि को स्वीकार करके चलें। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था—

धनुर्बाण या वेणु लो श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम, दूसरा रंग।

और तुलसी ने कहा था—राम और श्याम तो एक ही हैं, बस मुझे उनका यह एक विशेष परिधान ही अच्छा लगता है। यही बात और आगे जाकर मुहम्मद और ईसा के प्रिय परिधानों के संबंध में भी कही जा सकती है, देखने-समझने की बात केवल यही है कि इन परिधानों को धारण करने वाला गुहा में निहित एक ही तत्त्व है। यदि आप कहें कि यदि इस बात को मुसलमान या ईसाई भाई नहीं मानें तो? तो हिंदू इसका उत्तर देगा कि तो भी कोई बात नहीं, यह भी आखिर एक पंथ ही हुआ, केवल वे यह मानें कि इस धरती पर सबको अपने-अपने ढंग से रहने का अधिकार है और प्रेम से रहें।

किंतु इधर अपने को हिंदुओं का प्रतिनिधि कहने वाले कुछ लोग हिंदुत्व की यह आधारभूत बात छोड़ रहे हैं और वही मनोवृत्ति अपना रहे हैं जो मुस्लिम और ईसाई धर्मों में व्याप्त दृष्टि-दोष की कारण है। इसके लिए उनका तर्क है कि हिंदुओं को इस उदारतावाद ने ही नष्ट किया है। अब इसमें पहली बात तो यही गलत है कि हिंदू नष्ट हुए हैं। प्राचीन सभ्यताओं में चीनी के अतिरिक्त केवल हिंदू सभ्यता ही बची है। हिंदू पराजित केवल सैनिक पक्ष में ही हुए हैं और इसका कारण उनकी यह सांस्कृतिक दृष्टि नहीं कही जा सकती। यहां मैं कहना चाहूंगा कि यदि यह सांस्कृतिक दृष्टि इसकी सैनिक पराजयों की कारण हो तो वह पराजय भी भली। यदि दर्शन पढ़ने के कारण मैं किसी पहलवान से कुश्ती नहीं कर सकता तो मेरे लिए इसमें खेद की बात नहीं है, किंतु हिंदुओं की सैनिक पराजयों का कारण हिंदुओं की सांस्कृतिक दृष्टि को कहने में कोई औचित्य नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह संस्कृति आज भी जीवित है, यह आज भी रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी को जन्म दे सकती है।

किंतु अपने को हिंदुओं का रक्षक कहने वालों के लिए एक दूसरी बात है जो अधिक शोचनीय है और जिसकी ओर वे न केवल आंखें मूंदे हुए हैं बल्कि स्वयं भी उसमें सम्मिलित हैं, और वह है अंध पश्चिम-भक्ति। हम यह पहले भी अनेक बार लिख चुके हैं कि यदि कोई बाहरी जाति भारतीय संस्कृति की जड़ों पर आघात कर पाई है तो वह है यूरोप। अंग्रेजों ने भारत पर चौतरफा प्रहार किया—उन्होंने हमारी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी संस्थाओं को नष्ट किया और हमने न केवल वह खुशी-खुशी नष्ट होने दिया बल्कि स्वयं भी उस अभियान में सम्मिलित हो गए। उन्होंने हमारे मंदिर नहीं तोड़े, उन्होंने मंदिरों के प्रति हमारी दृष्टि को तोड़ा। उन्होंने हमारी परंपरा मात्र के प्रति हमारी दृष्टि को बदल दिया। इसका प्रमाण यह है कि हमने उनके देश से चले जाने के बाद अपनी खुशी से उस सब को कई गुणा उत्साह और उत्कंठा से अपनाया जितना उनके अपने प्रयत्न से हो पाया था। इस अभियान में आज अपने को हिंदुओं का प्रतिनिधि कहनेवाले उतने ही उत्साह से सम्मिलित हैं जितने उत्साह से अपने को इनका विरोधी कहने वाले सम्मिलित हैं। इन दो के आज नए नाम सेक्युलर और नॉन् सेक्युलर हैं। इन दोनों को भारतीय संस्कृति और समाज-परंपरा से कोई लेना-देना नहीं है, यदि है तो वह केवल अवांतर रूप से। उनका लेना-देना केवल उस राजनीतिक अखाड़ेबाजी से है जो आज दुराचार की पर्याय बन चुकी है। इसका प्रमाण यह है कि इन तथाकथित हिंदू-रक्षकों के भी बच्चे अंग्रेजी-माध्यम विद्यालयों में ही पढ़ते हैं और ये स्वयं भी विद्यालय खोलते हैं तो अंग्रेजी-माध्यम विद्यालय ही खोलते हैं और जिनका बस चलता है वे अपने बच्चों को अमरीका में ही पढ़ाना चाहते हैं। आज भी दूरदर्शन के प्रसारण उसी दिशा में अग्रसर हैं जिस दिशा में ये पहले अग्रसर थे। शिक्षा को हमने 'मानव-संसाधन' में रूपांतरित कर दिया है। स्वतंत्रता से पहले हम अंग्रेजों को कोसते थे कि उन्होंने हमारे पर बाबू उत्पन्न करने

वाली शिक्षा-नीति लाद दी है। हम तो उसे बदल नहीं पाए, किंतु वह अमेरिकी प्रभाव में अपने आप से व्यापार और फैक्ट्री के लिए उपयोगी मानव-संसाधन उत्पन्न करने की दिशा में मुड़ गई है।

यह सही है कि इस तथाकथित प्रजातंत्रवाद में कोई भी विचार लागू करने के लिए भारी बहुमत की आवश्यकता है और वह बहुमत उन लोगों का ही है जो विचारहीन हैं और जिनके संस्कार अविचार से आसानी से मिटाए जा सकते हैं। सेक्युलरिज्म, जनवाद, मनुवाद, माइनॉरिटीवाद, वैज्ञानिक दृष्टि आदि-आदि शब्द आज के मत पर शासन करते हैं जिनके पीछे कोई विचार नहीं होकर स्वार्थ से सुनियोजित प्रचार मात्र है। जिस प्रकार पीछे शिक्षामंत्रियों की सभा में सरस्वती-वंदना को लेकर हंगामा किया गया था, जिस प्रकार इधर महात्मा कबीर का जनवादीकरण हुआ और अब कुछ लोगों ने उनमें गर्हणीय ब्राह्मणवाद ढूंढ़ निकाला है, वह सब इस सारे वातावरण के रूप-गुण का द्योतक है। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन तथाकथित हिंदू-रक्षकों के पास कोई विचार या आचार है। अवश्य व्यक्तिगत स्तर पर कुछ बहुत अच्छे और विचारशील लोग भी राजनीति में हैं, किंतु सब मिलाकर परिस्थिति इतनी विकट हो गई है, दुर्बुद्धि और अनाचार इतने बलशाली हो गए हैं कि इसमें विचार-आचारवान व्यक्ति नितांत असहाय अनुभव करते हैं। जिस भयावह दलदल में आज हम बहुत गहरे धंस गए हैं उसका वास्तविक विकल्प हमारे इस नए युग में प्रवेश के आरंभ में ही महात्मा गांधी ने अत्यंत ठोस रूप में प्रस्तुत किया था। यूं कुछ और विकल्प भी रखे गए, जैसे स्वामी श्रद्धानंद द्वारा गुरुकुल के रूप में, रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा शांतिनिकेतन के रूप में और श्री अरविंद द्वारा श्री अरविंद आश्रम में स्थापित शिक्षा-प्रणाली के रूप में। किंतु ये सब उस चुनौती के संपूर्ण उत्तर के रूप में कल्पित नहीं थे, जैसी कल्पना महात्मा गांधी ने की थी। वह कल्पना प्रौद्योगिकीवाद के सामने कैसे ध्वस्त हो गई, यह हम देख ही सकते हैं। शायद गांधीजी के विकल्प में मनुष्य की पशुता के लिए उतना अवकाश नहीं है और आधुनिक प्रौद्योगिकी केवल उसे ही लक्षित कर चलती है। इस प्रकार गांधीजी की कल्पना की असफलता उसके अंतर्गत किसी दोष के कारण नहीं थी, बल्कि इतिहास ने जो दिशा ली है उसके विपरीत होने के कारण थी। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि सभ्यता की यह दिशा मूलगामी रूप से दोष-ग्रस्त है। यह काम और अर्थ के पीछे अपुरुषोचित अनुधावन है, मोक्ष पुरुषार्थ के लिए इसमें कोई अवकाश ही नहीं है और ऐसे में धर्म केवल अर्थ और काम का अनुचर ही हो सकता है। व्यक्तियों के बीच करार (कांट्रेक्ट) के रूप में समाज की कल्पना में धर्म का यही अर्थ रह जाता है। निश्चय ही मानवाधिकार और सामाजिक न्याय आदि के प्रति भी आज बहुत जागृति है और ये शुभ लक्षण हैं, किंतु इनके आधार के रूप में इस संस्कृति के पास तत्त्व-दृष्टि कोई नहीं है। भारत के पास इसके लिए तत्त्व-दृष्टि थी, अद्‌भुत दृष्टि, जो ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' में देखी जा सकती है और जो वास्तव में इस संस्कृति में और इसके सामाजिक व्यवहार के आदर्श में सर्वत्र व्याप्त थी। आज इसका आधार किसी तत्त्व-दृष्टि से रहित, बल्कि कहें उसके विपरीत, केवल मनुष्य का सहज विवेक है। किंतु यह सहज विवेक व्यक्ति या समाज का परीक्षा के अवसर पर साथ नहीं दे सकता। यही कारण है कि मानवाधिकार की बात आज पश्चिम के हाथ में एक राजनीतिक शस्त्र का कार्य भी करती है।

भारत का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि इसके पास यह दृष्टि युग-युगांतर से रही है और पश्चिम के दिग्विजय अभियान के आरंभ में इसने रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद और महात्मा गांधी आदि अनेक प्रकाश-स्तंभों के द्वारा इस दृष्टि को इस देश में पुनः उज्जीवित किया। किंतु तब भी यह देश अपने को बचा नहीं सका है। निश्चय ही आज भी कुछ ज्योति-पुरुष हमारे मार्ग को पूर्णतः लुप्त होने से बचाने में प्रयत्न-रत हैं, किंतु उस प्रकाश को ढांप देने वाली शक्तियां आज इतनी प्रबल हैं कि उसके विस्तार की कोई आशा दिखाई नहीं दे रही है। यूं तो राजनीतिक स्वतंत्रता के आरंभ में हमने जो मार्ग अपनाया था उस चुनाव ने ही हमारे लिए हमारी परंपरा के अंतर्गत किसी नए विचार और नए प्रयत्न की संभावनाएं समाप्त कर दी थीं, किंतु तब भी यदि दिवास्वप्न के लिए भी कोई अवकाश बचा था, वह अब अर्थ-तंत्र के अंतरराष्ट्रीयकरण के साथ समाप्त हो गया है। क्योंकि यह तंत्र शुद्ध रूप से वाणिज्यिक तंत्र है और यह असुरों के लिए भी अकल्पनीय यंत्र-शक्ति द्वारा शुद्ध रूप से पाशव स्वार्थों के लिए परिचालित है। खैर, तब भी काल निरवधि है, पृथ्वी चाहे अब विपुला नहीं भी रही है, इसलिए मनुष्य के उद्धार के लिए प्रार्थना तो की ही जा सकती है। ❖

धर्म भारतीय चिंतन और साधना के संयोग की व्यंजना करने वाला शब्द है। यहां धर्म की सरणियां इस प्रकार विवेचित की गई हैं कि प्रयोग में आ जाने के बाद पहली सरणि अगली में संक्रमित होती जाती है। साधारण कर्तव्य तथा औचित्य का नैतिक जीवन शुद्ध नैतिक मूल्यों में संक्रमित हो जाता है, अर्थात् इस स्तर पर व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य की दृष्टि से नैतिक जीवन नहीं अपनाता, वरन् उसे नैतिकता स्वतः श्रेयस्कर लगती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने वाले के लिए नैतिक जीवन सहायक-भर रह जाता है, वरन् आध्यात्मिक भूमिका पर वह उसके प्रति तटस्थ भी हो जाता है। इसे भारतीय मूल्य-दृष्टि की विशेषता माना जा सकता है। •

◆ **प्रो. रघुवंश**

भारतीय संस्कृति की मूल्य प्रक्रिया का परात्पर स्तर

भारतीय शब्द 'दर्शन' धर्म के समान व्यापक और आंतरिक अर्थ को व्यंजित करता है। प्राचीन तत्त्ववाद और आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवाद तथा अनुभववाद इसकी पूरी व्याख्या करने में समान रूप से असमर्थ हैं। प्राचीन तत्त्ववाद भी तर्क-पद्धतियों का सहारा लेता आया है, और जीव, जीवन, जगत, ईश्वर जैसे प्रश्नों के उत्तर की खोज में संलग्न रहा है। आज के तर्कवादी मुख्यतः ज्ञान की भाषागत प्रकृति के विवेचन-विश्लेषण में लगे हुए हैं। जो भी हो, तत्त्ववाद हो या आज के तर्क और भाषा पर आश्रित ज्ञान की प्रकृति पर विचार करने वाले सिद्धांत हों, मूलतः मनुष्य के ज्ञान और अनुभवों की आंतरिक संगति को ऐसे प्रत्ययों, चिह्नों, प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित करते हैं जो यथार्थ के नाना पक्षों को एक संघटित ज्ञानरूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। ज्ञान की सृजनात्मक प्रक्रिया के क्षेत्र में विज्ञान और तत्त्ववाद में मौलिक अंतर नहीं है। विज्ञान विभिन्न क्षेत्रों की भौतिक क्रियाओं, व्यवहारों तथा अनुभवों का एकत्र तथा संयोजित ज्ञान है और तत्त्ववाद इस प्रकार के समस्त ज्ञान के संयोजन का प्रयत्न करता है। जहां इन क्षेत्रों का प्रत्ययीकरण, प्रतीकीकरण तथा उनकी भाषिक संरचना मानवीय अनुभव क्षेत्र को जीवन के स्तर पर प्रभावित करती है, विस्तार देती है अथवा समृद्ध करती है, यह ज्ञान-विज्ञान सृजनात्मक है और दर्शन की परिभाषा के अंतर्गत आता है। यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार धर्म की सांस्कृतिक प्रक्रिया आध्यात्मिक अनुभव का जीवन है, उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान की सांस्कृतिक सृजनशीलता दार्शनिक साक्षात्कार का क्षेत्र है।

परंतु दर्शन ज्ञान-विज्ञान के चिंतन का अनुचिंतन मात्र नहीं है, वरन् नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक मूल्यों के अनुभव पर विचार करना भी है। एक प्रकार से दार्शनिक प्रक्रिया में समस्त सांस्कृतिक मूल्यचेष्टा को समाहित किया जा सकता है। जैसा कहा गया है, मूल्यों की स्थिति सृजनशीलता के समय व्यंजित होती है, अर्थात् मूल्यों का स्तर अनुभवपरक है। परंतु इन अनुभवों को प्रत्यय, संकेत, मिथक, प्रतीक और अंततः बिंब रूपों में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन सृजनात्मक अनुभवों का दार्शनिक चिंतन में पुनर्मूल्यांकन होता है। इस प्रक्रिया में निहित विश्लेषण-विवेचन, तथा व्याख्यान दार्शनिक चिंतन में इन मूल्यों की भिन्न स्तर पर मूल्योपलब्धि कराने में सहायक होते हैं। कोई भी सृजनात्मक अनुभूति सांकेतिक, मिथक, प्रतीकविधायिनी या बिंबविधायिनी होती है। ऐसा नहीं है कि बिना भाषिक संरचना के अंग बने इनमें कोई भी संवेदनशील रचना का रूप ग्रहण कर सके। रचना में ये आंतरिक अनुभवजगत के नाना रूपों, पक्षों और भूमियों को उद्घाटित, विवृत तथा व्यंजित करने में सफल होते हैं। इसी प्रकार दार्शनिक प्रक्रिया इन तमाम अनुभवक्षेत्रों, मूल्यचेष्टाओं, सृजन-प्रक्रियाओं को प्रत्ययों तथा प्रतीकों में रूपायित करती है। इनके माध्यम से जहां तक तार्किक ऊहापोह प्रकट किया जाता है, उक्तियों तथा कथनों का खंडन-मंडन किया जाता है,

यह दर्शन का तत्त्ववादी सिद्धांत पक्ष है। इसमें सृजनचेष्टा के अभाव में मूल्यबोध का स्तर भी व्यक्त नहीं होता। अधिक-से-अधिक इसमें बौद्धिक कौशल प्रकट होता है जो सभ्य जीवन की बौद्धिक क्षमता का एक लक्षण है। परंतु यह प्रत्ययपरक, प्रतीकात्मक और कभी मिथकीय तथा बिंबात्मक दार्शनिक अनुचिंतन की प्रक्रिया अमूर्त को रूपाकार प्रदान करती है, आवश्यक नहीं है कि स्थिति और अवयव वाली वस्तुओं का ही रूपाकार हो, वह भाषिक अभिव्यक्ति ग्रहण करने वाली किसी मानसिक क्रिया, मनःस्थिति तथा भावों का भी हो सकता है। वस्तुतः वस्तुओं की भौतिक स्थितियों का अनुभव इस भाषिक संरचना के अंतर्गत व्यंजित होता है और इसे ही उसका रूप कहा जाएगा।

भाषिक स्तर पर दर्शन मनुष्य के समस्त चिंतन को रचनात्मक अंतर्संबंधों, संगतियों और व्यापक अनुभव की संपूर्णता से संबद्ध करने का प्रयत्न करता है। बौद्धिक चेष्टाक्रम में प्रतिरोध तथा विसंगतियों के बीच दर्शन एक से दूसरी प्रतीकीकरण प्रक्रिया में संक्रमित होता चलता है। इस प्रकार अमूर्तीकरण के इस प्रत्ययपरक तथा प्रतीकात्मक भाषिक रूपविधान में कला के समान अनुभवों के एक स्तर से दूसरे में संक्रमण होता चलता है। जो जितना संवेदनशील होता है, संस्कृत होता है और साथ ही कलात्मक सौंदर्य के अनुभव की क्षमता रखता है, वह उसी सीमा तक इस दार्शनिक प्रक्रिया के सृजनात्मक मूल्य का अनुभव भी कर सकता है। उच्चतम भूमिका में समस्त ज्ञान, चाहे नीति या सौंदर्य हो, अनुभव तथा अस्तित्व का विस्तार करता है और इस प्रकार दार्शनिक मूल्यप्रक्रिया भी जीवन को अधिक सृजनशील, समृद्ध और सार्थक बनाने में सहायक होती है। ब्राड के अनुसार दर्शन समन्वय तथा पूर्ण रूपांकन की क्रिया से अग्रसर होता है। डॉ. देवराज इसीलिए दर्शन का विषय जीवन की समग्र मूल्यप्रक्रिया मानते हैं, जो मनुष्य की सृजनशील प्रेरणा से उच्चतर भूमियों की ओर अग्रसर है। इस प्रकार दर्शन मनुष्य की समस्त बौद्धिक क्षमता को उसके जीवनगत सार्थक अनुभवों के संयोजन के द्वारा जीवन की पूर्णता को उपलब्ध करने की ओर निरंतर प्रवृत्त करता रहा है।

भारतीय धर्म व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्य, आचारसंहिता और औचित्य-विचार से लेकर उसके आध्यात्मिक जीवन की उच्चतम भूमिका तक को आत्मसात् करता है। धर्म भारतीय चिंतन और साधना के संयोग की व्यंजना करने वाला शब्द है। यहां धर्म की सरणियां इस प्रकार विवेचित की गई हैं कि प्रयोग में आ जाने के बाद पहली सरणि अगली में संक्रमित होती जाती है। साधारण कर्तव्य तथा औचित्य का नैतिक जीवन शुद्ध नैतिक मूल्यों में संक्रमित हो जाता है, अर्थात् इस स्तर पर व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य की दृष्टि से नैतिक जीवन नहीं अपनाता, वरन् उसे नैतिकता स्वतः श्रेयस्कर लगती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने वाले के लिए नैतिक जीवन सहायक-भर रह जाता है, वरन् आध्यात्मिक भूमिका पर वह उसके प्रति तटस्थ भी हो जाता है। इसे भारतीय मूल्य-दृष्टि की विशेषता माना जा सकता है। पश्चिम के विचारकों ने इन स्तरों का संकेत आध्यात्मिक जीवन के ऐतिहासिक क्रमविकास में देखने की चेष्टा की है। अपनी प्रारंभिक चेतना के स्तर पर मनुष्य की अध्यात्म वृत्ति में अन्य अनेक तत्त्व सम्मिलित थे। मनुष्य के मिथकयुग में उसकी गाथाओं में धर्म, दर्शन, काव्य, नीति तथा अध्यात्म के तत्त्वों का सम्मिश्रण था। मनुष्य ने क्रमशः इन विभिन्न क्षेत्रों को अलग किया है, वह उनके मूल्यों की सृजनशीलता का अनुभव करने में सक्षम हुआ है, उनमें उसने उच्च से उच्चतर भूमिकाओं का क्रम बांधा है।

विभिन्न संस्कृतियों अथवा संस्कृति के विभिन्न स्तरों में आस्था संबंधी अंतर हो सकता है। फिर भी मानवीय स्तर पर इनमें अविच्छिन्नता है, क्योंकि विभिन्न सत्ताओं के प्रति उनका समान भावात्मक संबंध है। मनुष्य ने विश्व को संचालित करने वाली शक्तियों तथा भौतिक पदार्थों के रूपों के बारे में नाना कल्पनाएं की हैं। उसने प्रकृति के रूपात्मक सौंदर्य, क्रियाशील शक्ति और व्यंजित रहस्य को अनेक तरह से देखा है। परंतु उनके मूल अनुभव में अंतर नहीं आया है। इसी आधार पर आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में मनुष्य सांस्कृतिक परंपरा से बंधा हुआ है। क्रमविकास के साथ सत्ता की परिकल्पना में अंतर आते रहे हैं। प्रकृति में साक्षात् सत्ता को गतिशील देखने से लेकर मनुष्य ने नियामक ईश्वर तक की कल्पना की है। प्रकृति के एक गतिमय रूप को उल्लासमय देवत्व प्रदान करने से लेकर उसने एक व्यापक अनादि अनंत आत्मतत्त्व के स्रोत रूप ब्रह्म तत्त्व की उद्भावना की। फिर उसकी सापेक्षता में अनुभूतिमय जीवन बिताना ही आध्यात्मिक जीवन माना गया है। आस्था के आलंबन के साथ इस जीवन के संदर्भ में पूर्णत्व की एक कल्पना रहती है जिसे मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, ईश्वर-प्राप्ति, लीलासुख तथा स्वर्ग आदि के रूप में कहा गया है। सांस्कृतिक चेतना के स्तरों के साथ जिस प्रकार भावात्मक जीवन की प्रेरक सत्ता का रूप, धारणा और कल्पना भिन्न होती है, उसी प्रकार उसके लक्ष्य के बारे में विभिन्न परिकल्पनाएं और अवधारणाएं हैं। ऐसा नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन और उसका विषय तथा लक्ष्य

मनुष्य जीवन के अन्य पक्षों तथा उनमें उपार्जित होने वाले मूल्यों से अलग-थलग अपना अस्तित्व रखते हैं। आधार रूप में देवत्व की कल्पना में मनुष्य अपनी प्राकृतिक तथा आत्मिक शक्तियों की सीमाओं को असीम तथा अनंत संभावनाओं की ओर उन्मुख करता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य के रूप में वह अपनी सृजनात्मक अनुभूति का उच्चतम अनुभावन करना चाहता है। यहां तक कि अनेक आध्यात्मिक जीवन-पद्धतियों में मनुष्य की अन्य समस्त सृजनात्मक भूमिकाओं का संक्रमण किया गया है।

आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों में जीवन को संपूर्णता में व्यंजित करने की चेष्टा निहित है, अतः इस क्षेत्र में मनुष्य का समग्र मानस, उसका अवचेतन भी, संवेदित होता है। मनुष्य का संपूर्ण चेतनाजगत अपनी अनुभूतियों के ऐसे आयाम में यहां प्रवेश करता है जो प्रत्यक्ष और सचेत मानसिक जीवन का प्रायः अतिक्रमण करता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य के प्रत्यक्ष और सचेत मानसिक जीवन में इसका आधार नहीं है, अथवा दोनों में आंतरिक संबंध नहीं है। जब हम अपने व्यावहारिक तथा उपयोगी जीवन की अपेक्षा निरपेक्ष, निरुपयोगी, तटस्थ जीवन की अनुभूतियों की भूमिकाओं में प्रवेश करते हैं, उस समय हमारा पूरा अस्तित्व, हमारी पूरी मनोभूमि क्रियाशील हो उठती है। यहां चेतन-अवचेतन, सामान्य-असामान्य के बीच अविच्छिन्न संबंध स्थापित हो जाता है। इतना ही नहीं, आध्यात्मिक जीवन का स्वरूप तथा प्रक्रिया ऐतिहासिक परंपराओं से निर्धारित होते हैं। सांस्कृतिक मूल्यप्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग आध्यात्मिक अनुभूतियों का जीवन होता है, पर इसको संघटित और संवेदनीय बनाने में सांस्कृतिक परंपरा का बहुत बड़ा योग रहता है। इतना ही नहीं, विचारकों ने स्वीकार किया है कि इस चेतना की विभिन्न भूमिकाओं के स्वरूप निर्धारण में विशिष्ट व्यक्तियों और वर्गों का भी प्रभाव रहता है। रुडयाल्फ ऑटो ने रहस्यवाद संबंधी अपने अध्ययनों में इस अनुभूति की विविधता पर प्रकाश डाला है। यह रहस्यानुभूति सामान्य धार्मिक भाव के समान विभिन्न स्तरों तथा कोटियों वाली होती है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन के मूल्य शुद्ध सृजनात्मक अनुभूति के क्षेत्र में आते हैं; अतः ज़िन शब्दों, प्रतीकों तथा संकेतों में इसको अभिव्यक्त किया जाता है, उनसे इसकी विविधता पर प्रकाश नहीं पड़ता है। पर रहस्यानुभूति के विविध रूपों, प्रकारों और कोटियों को स्वीकार किया जा सकता है और अद्वैतवादी शांत तथा उद्वेगहीन, सूफ़ी आवेगमयी तथा उत्तेजक और तांत्रिक की चमत्कारमयी रहस्यानुभूतियों के अंतर को उनकी व्यंजनाओं में देखा जा सकता है।

आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों की कोटियों का निर्धारण उसके विषय या आलंबन से भी होता है। संसार की क्षणभंगुरता, उसके दुख-सुख के उपादान, उसकी कारणमत्ता हमारे मन में विग्रहणा, आतंक, विरक्ति उत्पन्न करते हैं। विश्व की विराटता, विविधता, अनंतरूपता मन में विस्मय, जिज्ञासा और कौतूहल उत्पन्न करते हैं, जिनसे दार्शनिक बौद्धिक प्रकिया प्रारंभ होती है और इस स्तर पर आध्यात्मिक जीवन संभव होता है। इसके अतिरिक्त नैतिक श्रेयस् और कलात्मक सौंदर्य के मूल्यबोध के स्तर पर भी आध्यात्मिक अनुभूतियां उपार्जित होती हैं। उपास्य की इस आलंबन रूप कल्पना में शक्ति, शील, सौंदर्य, कृपालुता तथा संहार का समावेश हो सकता है। सब मिलाकर इस आध्यात्मिक चेतना में शक्ति और विराटत्व, रहस्य और आकर्षण के व्यापक तत्त्व माने जा सकते हैं। ऑटो ने इसे विशुद्ध अथवा अतींद्रिय (होली और न्यूमेनस) की धारणा में व्याप्त करने की चेष्टा की है। परंतु डॉ. देवराज का कहना है कि रहस्यानुभूति के संपूर्ण क्षेत्र को इस प्रकार व्याख्यायित करना संभव नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार अद्वैतवादी रहस्यानुभव मात्र रहस्यानुभूति है और उसमें ऑटो की 'निर्भरता की भावना' के लिए भी स्थान नहीं है। जो भी हो, रहस्यानुभूति कहने से आध्यात्मिक जीवन की उन भूमियों का समाहार हो जाता है जो अवर्णनीय और अव्याख्येय हैं। साथ ही इस शक्ति, शील और सौंदर्यसमन्वित सत्ता के प्रति निर्भरता, अनन्यता तथा समर्पण उसकी आनंदोपलब्धि के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार उसकी विराटता, अनंतता तथा अद्वैतता के सृजनात्मक अनुभव के लिए योग, समाधि, आत्मबोध आदि की अपेक्षा होती है।

संस्कृति की सारी चर्चा में यह व्यंजित हुआ है कि मनुष्य सृजनात्मक मूल्योपलब्धि के क्षेत्र में उच्चतर लक्ष्य की ओर उन्मुख रहा है। और इस यात्रा में वह जितना आगे बढ़ा है उसका चरम लक्ष्य अधिक व्यापक, गहन, आंतरिक और सूक्ष्म होता गया है। वह भौतिक जीवन के मूल्यों की सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा है, उनको अपर्याप्त समझकर आध्यात्मिक परम श्रेयस् की ओर अग्रसर हुआ है। इसके श्रेयस् की चरम मूल्य के रूप में अनेक कल्पनाएं सामने आई हैं, जैसे लीला, निर्वाण, मोक्ष, ब्रह्मतत्त्व, स्वर्ग आदि। उच्च भूमियों के इस चरम मूल्य और उसकी उपलब्धि को सदा अवर्णनीय, अज्ञेय तथा अव्याख्येय माना गया है। इसका अनुभव का स्तर भी प्रायः भिन्न माना गया है। इस जीवन के लिए व्यावहारिक, भौतिक तथा उपयोगी जीवन के प्रति विरक्ति की अपेक्षा बताई गई है। यह अवश्य

शेष पृष्ठ 25 पर

अनुभूति

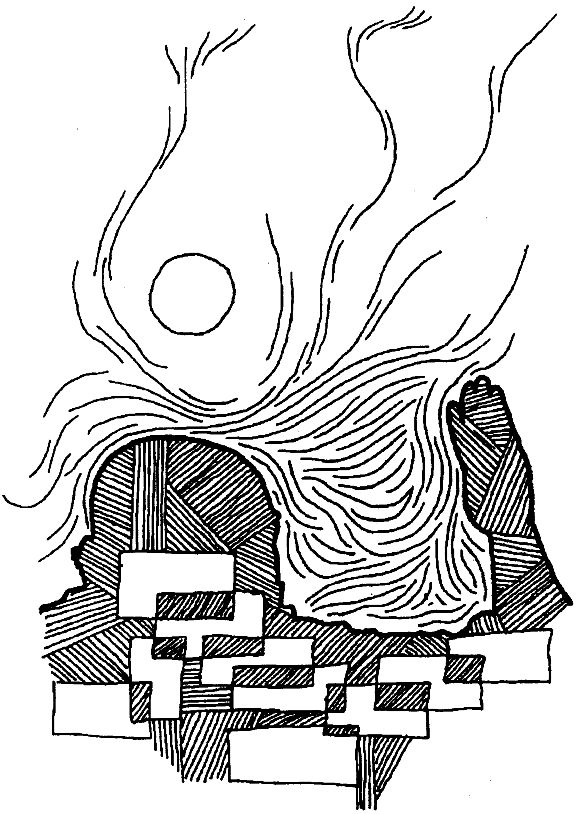

परम गुरु
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अंतहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूं
और यह अंतहीन सहानुभूति
पाखंड न लगे।

दो तो ऐसा कलेजा दो
कि अपमान और महत्त्वाकांक्षा और भूख
की गांठों में मरोड़े हुए
उन लोगों का माथा सहला सकूं
और इस का डर न लगे
कि कोई हाथ ही काट खाएगा।

दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूं
और इस की चिंता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल
कौन अपने पक्ष में करेगा।

यह भी न दो
तो इतना ही दो
कि बिना मरे चुप रह सकूं।

—विजयदेवनारायण साही

हमारी नियंत्रण की क्षमता का स्रोत, हमारे अंतर्ज्ञान का, अंतर्दृष्टि का स्रोत और हमारे आनंद का स्रोत—ये तीन स्रोत हमारे भीतर हैं। इन पर एक आवरण या कूड़ा-करकट जमा हुआ है। अगर हम प्रयोग के द्वारा उस आवरण और कूड़े-करकट के ढेर को हटा सकें और उन स्रोतों को प्रकट कर सकें, तो एक नए जीवन का प्रारंभ हो सकता है, नए व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है, नई पीढ़ी का निर्माण संभव बन सकता है।

◆ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

व्यक्तित्व विकास की चाबी

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह मान लिया गया है कि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक रसायन होता है। कहीं-कहीं न्यूरोट्रांसमीटर होता है, कहीं-कहीं केमिकल होता है और वह हमारे व्यवहार को नियंत्रित करता है। जब तक हम रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया को नहीं समझ लेते हैं, यौगिक रासायनिक परिर्वतन को प्रयोग में नहीं लाते हैं तो हमारे व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। जीवन में तीन बातें बहुत जरूरी होती हैं। एक स्वस्थ, शांत और संतुलित जीवन जीने के लिए पहली बात है नियंत्रण की क्षमता। दूसरी बात है—ज्ञान की क्षमता। ज्ञान में उसके सारे पक्ष आ जाते हैं—समझ, अवधारणा आदि-आदि। तीसरी बात है—आनंद की अनुभूति। ये तीन बातें अगर हमारे बौद्धिक विकास के साथ नहीं होती हैं तो जीवन खतरनाक बन जाता है।

बौद्धिक विकास बहुत आवश्यक है—इसे कभी कम मूल्य नहीं दिया जा सकता, किंतु किसी भी वस्तु को सब-कुछ मान लेने से एक भ्रांत धारणा बन जाती है। आज कुछ ऐसा ही हो गया है। चिंतन का एक विपर्याय-सा दृष्टिगत हो रहा है या एक बौद्धिक भ्रांति पैदा हो गई है। मनुष्य को अध्ययन के बाद परिवार में, समाज में, समुदाय में जीना है और उसमें बौद्धिक विकास जितना कम काम देता है, व्यवहार की अपेक्षा भी कम नहीं होती है। हमारे जीवन से दो महत्त्वपूर्ण शब्द जुड़े हुए हैं—दृष्टिकोण और व्यवहार। आदमी को व्यवहार से पहचाना जाता है। मानसिक संतोष और असंतोष, मानसिक तनाव और मानसिक तनाव से मुक्ति—ये जितने बुद्धि से जुड़े हुए नहीं हैं, उतने हमारे व्यवहार से जुड़े हुए हैं।

एक कार आ रही थी। चौराहे पर सिपाही खड़ा था। उसने कार को रोका—ठहरो! ड्राइवर बोला—क्यों? किसलिए? सिपाही ने कहा—लाइट नहीं है, कैसे गाड़ी चला रहे हो? ड्राइवर बोला—पीछे हट जाओ, इसमें ब्रेक भी नहीं हैं।

कितना बड़ा खतरा होता है जब लाइट भी नहीं होती और ब्रेक भी नहीं होता। जिस जीवन में 'लाइट' भी नहीं होती और ब्रेक भी नहीं होता, वह जीवन उस कार की भांति खतरनाक बन जाता है। बहुत जरूरी है जीवन में प्रकाश और बहुत जरूरी है जीवन में नियंत्रण। ये दोनों होते हैं तो जीवन में आनंद की अनुभूति होती है। मानसिक तनाव आजकल इतना ज्यादा रहता है कि हर बात में आदमी तनाव से भरा रहता है। ऐसी अवस्था में जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता, जीवन में कोई आनंद नहीं रहता।

क्षयोपशमः नियंत्रक प्रणाली

एक स्वस्थ, शांत और संतुलित जीवन जीने के लिए पहली शर्त है—नियंत्रण की क्षमता को विकसित करें। अपनी नियंत्रण क्षमता को बढ़ाएं। इसे कहीं बाहर से लाने की जरूरत नहीं है। हर व्यक्ति के पास नियंत्रण की क्षमता है। आज के मस्तिष्क-वैज्ञानिक इस बात को प्रतिपादित कर चुके हैं कि क्रोध की प्रणाली हमारे मस्तिष्क में है, तो क्रोध को नियंत्रित करने की प्रणाली भी हमारे मस्तिष्क में ही है। दोनों प्रणालियां साथ-साथ काम कर रही हैं। इस बात को हम स्वयं कभी-कभी अनुभव करते हैं। जब क्रोध करते हैं तो भीतर में ही कहीं आवाज आती है—नहीं! अभी ठहरो। अभी इतना गुस्सा मत करो, इतना क्रोध मत करो। यह आवाज भीतर में कहां से आती है? यह उस प्रणाली से आती है जो नियंत्रक

प्रणाली है, जो साथ-साथ नियंत्रण करती चली जाती है। हमारी जितनी वृत्तियां हैं, जितने आवेग हैं, उनके साथ उन सबकी नियंत्रण की प्रणालियां भी काम कर रही हैं।

कर्मशास्त्र में दो शब्द आते हैं—औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव। बहुत महत्त्वपूर्ण हैं ये दोनों शब्द। औदयिक भाव का अर्थ है—इमोशंस का प्रकट होना, आवेग-संवेग का प्रकट होना। क्षायोपशमिक भाव से उन पर नियंत्रण की क्षमता प्राप्त होती है। स्पष्ट है—प्रत्येक आवेग-संवेग पर नियंत्रण करने की प्रणाली भी विद्यमान है। क्रोध आता है, तो क्रोध पर नियंत्रण भी किया जा सकता है। भय लगता है, तो भय पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। हीन-भावना आती है, तो उस पर भी नियंत्रण किया जा सकता है और अहं की भावना आती है, तो उस पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। प्रत्येक संवेग पर नियंत्रण किया जा सकता है। हम इस नियंत्रण की प्रणाली को यदि नहीं समझते हैं, तो हमारे जीवन का एक पक्ष अधूरा रह जाता है। प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है नियंत्रण की प्रणाली को समझना और नियंत्रण की क्षमता को विकसित करना।

संवेग का कारण

कुछ वर्ष पहले राजस्थान के सुंदर पहाड़ी प्रदेश मेवाड़ में चातुर्मासिक प्रवास चल रहा था। वहीं प्रेक्षाध्यान का एक शिविर था। महाराष्ट्र से एक परिवार उस शिविर में आया। एक युवती जिसके श्वसुर का देहांत हो गया, उसमें भाग ले रही थी। देहांत का ऐसा आघात लगा कि उसे दिन-रात भय का अनुभव होने लगा। वह सारे दिन बेचैन रहती। उसकी इस भयग्रस्त मानसिक स्थिति से परिवार वाले भी बेचैन रहने लगे। वह सारे दिन भय से आक्रांत रहती। बड़ी समस्या हो गई। उसने दस दिन के प्रेक्षाध्यान शिविर में ध्यान का प्रयोग किया। शिविर समाप्ति के अवसर पर परिवार के लोगों ने बताया—इसकी अस्सी प्रतिशत मानसिक स्थिति ठीक हो गई है। डर लगना बंद हो गया है।

यह भय कैसे बंद हुआ? डर क्यों लगने लगा था? जब हमारी कमजोरी की प्रणाली सक्रिय बन जाती है, कोई बटन दब जाता है, तो कोई न कोई संवेग जाग जाता है। किसी में क्रोध, किसी में अहंकार, किसी में लालच, किसी में डर, किसी में काम-वासना—सारे तीव्र हो जाते हैं, किंतु इसके साथ-साथ यदि हम संवेग नियंत्रण की प्रणाली को जान लेते हैं तो हम उस संवेग से छुटकारा पा सकते है। बटन को उल्टा दबा सकते हैं, उस पर काबू पा सकते हैं। उस प्रणाली का ज्ञान नहीं होता है तो डाक्टरों की शरण में जाना पड़ता है।

नियंत्रण करने की क्षमता का जब तक विकास नहीं किया जाता, जब तक अपने संवेगों पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं बढ़ती, ओषधियां हमें नहीं बचा सकतीं। हमारे जीवन की पहली शर्त है—नियंत्रण का विकास। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए जरूरी है, चाहे पढ़ा-लिखा हो, चाहे अनपढ़ हो। हमने ऐसे लोगों को देखा है जो बहुत पढ़े-लिखे हैं, बहुत विद्वान हैं, किंतु उनका पारिवारिक जीवन इतना ज्यादा दुखी है कि कोई सीमा नहीं है। पढ़ाई सब जगह काम नहीं आती। जीवन का एक पक्ष है—पढ़ना। अध्ययन हमारा एक पक्ष है। परंतु अन्य पक्ष भी हैं, उनकी उपेक्षा होने से भी जीवन दुखी हो जाता है।

पीनियल, पिच्यूटरी से अधिक शक्तिशाली है

मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट भाग हमारे व्यवहार के नियामक हैं। उन्हें सक्रिय किया जाए तो हमारी नियंत्रण क्षमता बढ़ सकती है। ललाट के मध्य का भाग, जिसे प्रेक्षाध्यान में ज्योतिकेंद्र कहा जाता है, हमारे संवेग क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण भाग है। मनोविज्ञान की भाषा में यह कषाय-जागरण का क्षेत्र है। लिंबिक सिस्टम और हाइपोथेलेमस का यह क्षेत्र, जहां हमारी सारी भाव-धाराएं पैदा होती हैं और बढ़ती हैं, अगर इस क्षेत्र पर हमारा नियंत्रण होता है तो हम संवेगों की दृष्टि से, आवेगों की दृष्टि से बहुत आश्वस्त हो सकते हैं। जो व्यक्ति इस पीनियल ग्लैंड के क्षेत्र पर ध्यान करता है, उसकी नियंत्रण की क्षमता बढ़ जाती है। पीनियल ग्लैंड बहुत सारी वृत्तियों पर नियंत्रण करता है। आयुर्विज्ञान में पिच्यूटरी ग्लैंड को मास्टर ग्लैंड माना गया है। विज्ञान के क्षेत्र में पीनियल ग्लैंड पर अभी काम हो रहा है। हमारा यह स्पष्ट अनुभव है कि पीनियल, पिच्यूटरी की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। भारतीय योगविद्या में इस स्थान को बहुत ज्यादा महत्त्व दिया गया है। पिच्यूटरी की अपेक्षा भी पीनियल को अधिक महत्त्व दिया गया है। जितना नियंत्रण और जितनी शक्ति पीनियल के साथ है उतनी पिच्यूटरी के साथ नहीं है। अगर यह स्थान नियंत्रित होता है, तो वृत्तियों पर सहज नियंत्रण हो जाता है।

दस-बारह वर्ष के बच्चे में नियंत्रण की क्षमता ज्यादा होती और सत्तर वर्ष के बूढ़े में नियंत्रण की शक्ति कम हो जाती है। बूढ़ा जितना चिड़चिड़ा होता है, बच्चा उतना चिड़चिड़ा नहीं होता। नाड़ी-तंत्र और ग्रंथि-तंत्र कमजोर होता है तो गुस्सा ज्यादा आने लगता है, व्यक्ति चिड़चिड़ा हो जाता है। वह नियंत्रण कम कर पाता है। इसका कारण बतलाया गया—दस-बारह वर्षों तक पीनियल ग्लैंड बहुत सक्रिय रहती है और वह सारे 'हारमोन्स' के स्रवण पर

नियंत्रण भी रखती है। इसके बाद वह निष्क्रिय होना शुरू हो जाती है। उसकी निष्क्रियता कुछ समस्याएं पैदा करती है। यदि हम नियंत्रण की क्षमता को बढ़ा सकें तो हमारे जीवन का एक पक्ष बहुत अच्छा बन जाता है।

पराविद्या : अपराविद्या

जीवन का दूसरा पक्ष है ज्ञान। ज्ञान केवल बौद्धिक विकास पर ही आधारित नहीं है। हमारे मस्तिष्क में दो भाग हैं—दायां पटल और बायां पटल। बायां पटल, जिसे उपनिषद् में अपराविद्या कहा गया—भाषा, गणित, तर्क आदि के लिए जिम्मेवार है और मस्तिष्क का दूसरा हिस्सा जिसे पराविद्या कहा गया—अंतर्दृष्टि, चरित्र आदि के लिए जिम्मेवार है। आज के शिक्षा संस्थानों में बायां भाग तो बहुत सक्रिय हो जाता है, किंतु दायां भाग सोया का सोया रह जाता है। इस असंतुलन ने अनेक समस्याएं पैदा कर दीं। आज सबकी शिकायत है कि हिंसा बहुत बढ़ रही है। अपराध बहुत बढ़ रहे हैं, आक्रामक वृत्ति बहुत बढ़ रही है। एक छोटा बच्चा भी आक्रामक हो रहा है। आक्रामकता सीधी झलक रही है, बढ़ रही है। हिंदुस्तान में ही नहीं, पूरे विश्व में बढ़ रही है।

अमेरिका जैसे विकसित देश में इतना आक्रामक मनोभाव बढ़ गया कि किसी को मारना कोई खास बात नहीं है। सारे जगत की शिकायत है कि हिंसात्मक वृत्तियां बहुत ज्यादा बढ़ रही हैं। पर क्यों बढ़ रही हैं? हम कारणों पर विचार करें! बहुत बार कहा जाता है कि यह सारा पढ़ाई से बढ़ रहा है। मैं इसे सही नहीं मानता। यह पढ़ाई से नहीं बढ़ रहा है। पढ़ाई का यह काम नहीं है। यह इसलिए हो रहा है कि दूसरे पक्ष की तरफ हमारा ध्यान नहीं है। नियंत्रण की तरफ हमारा ध्यान नहीं है। ज्ञान का जो दूसरा पक्ष है—अंतर्दृष्टि को जगाना, अपनी अतींद्रिय चेतना को जगाना, उस ओर हमारी गति ही नहीं है। हमारे पास बहुत अतींद्रिय चेतना है। उसे जगाना आवश्यक है।

आनंद की खोज

तीसरी बात है—आनंद। आज महाविद्यालयों के परिसर में मादक पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा बढ़ रही है। समाज में भी इसका प्रचलन बढ़ रहा है। यह प्रवृत्ति क्यों बढ़ रही है? इसके पीछे एक आकर्षण है। बिना आकर्षण कोई भी चीज नहीं बढ़ सकती। मनुष्य का इसमें आकर्षण है। 'सिगरेट मत पीओ' इसमें इतना आकर्षण नहीं है, जितना सिगरेट पीने में आकर्षण है। आज सिगरेट और शराब जैसी चीजें तो गौण हो गई हैं, बहुत छोटी पड़ गई हैं। उनके स्थान पर बहुत से 'ड्रग्स' और हेरोइन जैसे पदार्थ आ गए हैं। सिगरेट उनके सामने कुछ भी नहीं है। यह नशे की प्रवृत्ति इतनी क्यों चल रही है? इसका कारण है—आनंद की खोज। आदमी आनंद चाहता है, मस्ती चाहता है। मनुष्य अपने जीवन में मस्ती के क्षण चाहता है। वे उसे नहीं मिलते हैं तो वह नशा करता है, जिससे कुछ समय तक वह मस्ती में डूब जाता है। यह बहुत बड़ा आकर्षण है, जिससे खिंचा वह नशे की चीजों का प्रयोग करता है।

विकल्प हमारे भीतर है

प्रश्न है—क्या इसका विकल्प नहीं है? विकल्प हमारे भीतर है। आनंद का विशुद्ध विकल्प हमारे भीतर है। अगर हम भीतर के आनंद को नहीं जगाएंगे तो नशे में जाना पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है। इसे कभी रोका नहीं जा सकता। अगर भीतर के आनंद को जगा लें, तो फिर नशे में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतीत और भविष्य से मुक्त होकर वर्तमान में जीना आनंद के स्रोत को प्रकट करने का साधन है। भूत और भविष्य—इन दोनों से हटकर यदि वर्तमान की धारा में चल सकें तो इतना आनंद उद्भूत होगा कि फिर नशा करने की कोई जरूरत नहीं पड़ेगी।

प्रेक्षाध्यान का प्रशिक्षक ट्रेन में यात्रा कर रहा था। ट्रेन में एक परिवार भी बैठा था। उसने देखा—उनमें परस्पर झगड़ा चल रहा है, संघर्ष हो रहा है। उसने भी ध्यान दिया। परिवार के सारे लोग एक युवक से कह रहे हैं—तुम बहुत सिगरेट पीते हो, सिगरेट पीना छोड़ दो। वे सिगरेट की मनाही कर रहे हैं और वह युवक एक के बाद एक सिगरेट जलाता चला जा रहा है। एक सिगरेट बुझती नहीं, दूसरी जल जाती। वह कहता है—मैं सिगरेट नहीं छोड़ सकता। इस बात को लेकर बड़ा संघर्ष चला। कुछ समय बाद कहा-सुनी जब थोड़ी शांत हुई, प्रशिक्षक ने कहा—भैया! एक बात मैं कहना चाहता हूं। आप सिगरेट नहीं छोड़ सकते, पर मैं एक नई सिगरेट पीना सिखा दूं तो? युवक बोला—अगर नई तरह की मिल जाए तो मैं छोड़ सकता हूं। प्रशिक्षक ने कहा—सिगरेट का कश आप लेते हो तब मजा आता है? युवक ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया। जब धुआं निकालते हो तब भी आपको मजा आता है? युवक ने कहा—हां। प्रशिक्षक ने कहा—आप बहुत तेज श्वास लो। सिगरेट का कश खींचते हो, वैसे ही जोर से श्वास लो और बहुत तेजी से श्वास निकालो जैसे धुएं का गुबार निकालते हो। युवक को यह सुझाव पसंद आया। उसने उस प्रयोग को प्रारंभ किया। कुछ समय बाद ही उसे आनंद की अनुभूति होने लगी और सिगरेट के प्रति वितृष्णा जाग गई। उसने संकल्प के स्वर में कहा—

मैं कभी सिगरेट नहीं छोड़ सकता था, पर मैंने अब नई सिगरेट पीना सीख लिया है, इसलिए मैं शपथ खाकर कहता हूं कि अब सिगरेट नहीं पीऊंगा।

आनंद का स्रोत

श्वास के साथ हमारी चेतना जुड़ जाती है तो हम वर्तमान में जीना सीख जाते हैं। आदमी वर्तमान में जीना सीख लेता है तो आनंद का भीतरी स्रोत खुल जाता है। जब बाहर से आनंद लेने की जरूरत बहुत कम हो जाती है तब न सिगरेट की जरूरत होती है और न नियम का अतिक्रमण कर मनोरंजन के साधनों को अपनाने की जरूरत होती है। अपेक्षाएं बहुत कम हो जाती हैं। हम इन मादक पदार्थों के सेवन की बात को कानूनी नियंत्रण या ऊपर के कानूनों को थोपकर कभी नहीं मिटा सकते, जब तक हम भीतर के आनंद को नहीं जगा लेते। भीतर का आनंद जाग सकता है, वर्तमान में जीने के अभ्यास से। जिस व्यक्ति ने वर्तमान के क्षण को देखना शुरू कर दिया, वर्तमान की धारा के साथ अपने आपको प्रवाहित करना शुरू कर दिया; उसे भीतर से इतना आनंद आएगा कि जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

मस्तिष्क की क्षमता जागे

हमारी नियंत्रण की क्षमता का स्रोत, हमारे अंतर्ज्ञान का, अंतर्दृष्टि का स्रोत और हमारे आनंद का स्रोत—ये तीन स्रोत हमारे भीतर हैं। इन पर एक आवरण या कूड़ा-करकट जमा हुआ है। अगर हम प्रयोग के द्वारा उस आवरण और कूड़े-करकट के ढेर को हटा सकें और उन स्रोतों को प्रकट कर सकें, तो एक नए जीवन का प्रारंभ हो सकता है, नए व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है, नई पीढ़ी का निर्माण संभव बन सकता है। उस पीढ़ी में, उस व्यक्ति में, जीवन की सारी सफलताओं का विकास ही नहीं होगा—सामाजिक स्वास्थ्य और राष्ट्रीय चरित्र का विकास भी होगा। वह व्यक्ति ऐसा बन जाएगा कि बाहर से गर्मी आ रही है, किंतु कोई प्रभाव नहीं—सर्वथा अप्रभावित अवस्था। हम प्रयोग द्वारा मस्तिष्क को बाह्य वातावरण से अप्रभावित बना सकते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक बताते हैं—एक सामान्य व्यक्ति अपनी मस्तिष्कीय क्षमताओं का सात-आठ प्रतिशत भाग काम में लेता है। शेष सारी मस्तिष्क की क्षमताएं सोई रहती हैं। थोड़ा बड़ा आदमी होता है तो वह नौ-दस प्रतिशत काम में लेता है, ज्यादा से ज्यादा दस-बारह प्रतिशत काम में ले लेता है। दस-बारह प्रतिशत मस्तिष्कीय क्षमताओं का प्रयोग करने वाला आदमी दुनिया का असाधारण व्यक्ति माना जाता है। हमारी अस्सी-नब्बे प्रतिशत क्षमताएं सोई की सोई पड़ी हैं। अगर हम उन्हें जगा सकें तो दुनिया का नक्शा बदल जाए। उन्हें जगाने का उपाय बाहर नहीं है। उन्हें जगाने के सारे उपाय हमारे भीतर हैं। यह बात जिस दिन समझ में आएगी, हमारे व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सहज संभव बन जाएगा। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार में होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटो कॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

जब तक अहिंसा के बारे में नया अनुसंधान नहीं होगा, उसकी तेजस्विता स्थापित नहीं हो सकेगी। वैज्ञानिक लोग पदार्थ के छोटे-छोटे कणों पर अन्वेषण कर उन्हें महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रमाणित कर देते हैं। आज लोग अहिंसा को कायरों का हथियार बताते हैं। अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों का मखौल करते हैं। क्यों? कारण स्पष्ट है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में अहिंसा की जो गुण-गरिमा गाई गई है, क्या उसे कभी अनुसंधान का विषय बनाया गया?

◆ आचार्यश्री तुलसी

अहिंसा की अर्थवत्ता

मनुष्य हिंसा करता है, यह उसका स्वभाव है, ऐसा कुछ लोगों का अभिमत है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्'—एक जीव का जीवन दूसरे जीव पर आश्रित है, इस अवधारणा के आधार पर मृत्यु के भय से आतुर मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। मनुष्य हिंसा के बिना जी नहीं सकता, यह बात एक सीमा तक ही सही हो सकती है, पर हिंसा उसका स्वभाव नहीं है। हिंसा की ही तरह असत्य संभाषण, चोरी, संग्रह की मनोवृत्ति, भोगासक्ति आदि वृत्तियां भी मनुष्य का स्वभाव नहीं हैं। इनको विभाव मानना उचित लगता है। जो विभाव है, वह बीमारी है और जो स्वभाव है, वह स्वास्थ्य है। कठिनाई तब आती है जब मनुष्य स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव मान लेता है। इसी कारण वह अपनी बीमारी या स्वास्थ्य को भी ठीक-ठीक समझ नहीं पाता।

मनुष्य जब कभी शारीरिक स्तर पर बीमार होता है, डाक्टर के पास जाता है। बीमारी का पूरा विवरण देकर वह चिकित्सा कराता है। बीमारी का सही विवरण, निदान, औषधि, डाक्टर का आत्मीय व्यवहार और पथ्य-परहेज की जागरूकता, ये सारे योग मिलते हैं तो बीमारी दूर हो सकती है। जो लोग बीमारी को बीमारी नहीं मानते, उसका निदान व उपचार नहीं कराते तथा पथ्य-परहेज का ध्यान नहीं रखते, वे स्वास्थ्य की आशा कैसे कर सकते हैं?

हिंसा एक बीमारी है

हिंसा एक भावनात्मक बीमारी है। इसका संबंध कर्मों से है, संस्कारों से है। जिस व्यक्ति को यह बीमारी लग जाती है, वह अकारण ही आक्रामक हो उठता है। कभी वह मनोरंजन के नाम पर अनर्थ हिंसा के क्षेत्र में उतर जाता है, तो कभी जीभ के स्वाद में आसक्त होकर पशु-पक्षियों का वध करता है। कभी प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर वह किसी की हत्या कर देता है, तो कभी-कभी उसके भीतर जागने वाले असुरक्षा के भाव भी उसे हिंसा के लिए विवश कर देते हैं।

हिंसा की मनोवृत्ति का उपचार तब तक नहीं हो सकता, जब तक इसे एक बीमारी के रूप में नहीं समझा जाएगा। जब बीमारी का बोध ही नहीं होगा तो उसकी चिकित्सा कौन कराएगा? शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि हर क्षेत्र में बढ़ती जा रही हिंसा को नियंत्रित करने के लिए किसी कुशल चिकित्सक की अपेक्षा है।

हिंसा बढ़ रही है। क्योंकि उसका विधिवत प्रशिक्षण होता है। हिंसा की तरह अहिंसा का भी प्रशिक्षण मिलता रहे, तो हिंसा को रोका जा सकता है। क्या कहीं अहिंसा के प्रशिक्षण की व्यवस्था है? कौन हैं अहिंसा के प्रशिक्षक? प्रशिक्षण की साधन सामग्री क्या हो सकती है? इत्यादि प्रश्नों पर गंभीरता के साथ विचार करने की जरूरत है। अहिंसा का प्रशिक्षण केवल पुस्तकों के माध्यम से नहीं हो सकता। पुस्तकों से अहिंसा के बारे में जानकारी मिल सकती है, पर वह जीवन के साथ नहीं जुड़ सकती। जब तक अहिंसा आत्मसात नहीं होगी, हिंसा की बीमारी मिट नहीं सकेगी।

प्रशिक्षण के साथ अनुसंधान और प्रयोग

अहिंसा का प्रशिक्षण हमें अभीष्ट है। इससे आगे और पीछे दो तत्त्व और जुड़ने से प्रशिक्षण की प्रक्रिया सर्वांगीण होती है। वे दो तत्त्व हैं—अनुसंधान और प्रयोग। जब तक अहिंसा के बारे में नया अनुसंधान नहीं होगा, उसकी

तेजस्विता स्थापित नहीं हो सकेगी। वैज्ञानिक लोग पदार्थ के छोटे-छोटे कणों पर अन्वेषण कर उन्हें महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रमाणित कर देते हैं। आज लोग अहिंसा को कायरों का हथियार बताते हैं। अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों का मखौल करते हैं। क्यों? कारण स्पष्ट है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में अहिंसा की जो गुण-गरिमा गाई गई है, क्या उसे कभी अनुसंधान का विषय बनाया गया? 'अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी'—अहिंसा सब प्राणियों का कल्याण करने वाली है, यह एक तथ्य भी यदि अनुसंधान से प्रमाणित हो जाए, तो हिंसा को खुला तांडव करने का मौका नहीं मिल सकेगा।

अनुसंधान के बाद, बात सामने आती है प्रशिक्षण की। अहिंसा क्या है? उसकी क्षमता कितनी है? उसका उपयोग क्या है? उसको कैसे काम में लिया जा सकता है? उसके परिणाम क्या हो सकते हैं? आदि बिंदुओं को सामने रखकर उसका व्यावहारिक प्रशिक्षण होता रहे तो जीवनशैली को संवारने वाला रसायन हो सकती है अहिंसा।

प्रशिक्षण के बाद बारी आती है प्रयोग की। भोजन कितना ही स्वादिष्ट और पोषक हो, जब तक वह उपयोग में नहीं आएगा, अपनी गुणवत्ता प्रमाणित नहीं करेगा। सिद्धांत कितना ही ऊंचा हो, जब तक उसका प्रयोग नहीं होगा, वह उपादेय नहीं बन पाएगा। अहिंसा हमारी मां है। इसकी छत्रछाया में पूरी मानव जाति निश्चिंत होकर जी सकती है। पर यह तभी संभव है—जब समता, मैत्री, अभय, सहिष्णुता आदि के रूप में उसका प्रयोग होता रहेगा। अहिंसा का अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग इस त्रिपदी में जीवनदायिनी शक्ति है, ऐसी आस्था का निर्माण होने से ही अहिंसा का वर्चस्व बढ़ सकता है।

कौन बनेगा अहिंसा का प्रशिक्षक?

लोकजीवन में अहिंसा को प्रतिष्ठित करने के लिए अहिंसा के प्रशिक्षण की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है। प्रश्न यह है कि अहिंसा के प्रशिक्षक कौन होंगे? इसके लिए हमें ऐसे व्यक्तियों की खोज करनी होगी, जो नैसर्गिक रूप में अहिंसानिष्ठ हैं, अथवा अभ्यास से अहिंसक बन गए हैं। उदाहरण के रूप में महात्मा गांधी को उपस्थित किया जा सकता है। उनके पास जाने वाले और रहने वाले व्यक्तियों को अनायास ही उनके जीवन से अहिंसा की झलक मिल जाती थी। गांधी को पढ़ने वाले जानते हैं कि उन्होंने अपने जीवन में अहिंसा को कितनी निष्ठा के साथ जिया था।

गांधी प्रतिदिन दतौन करते थे। दतौन के लिए वृक्ष की पूरी टहनी को तोड़ना उन्हें रुचिकर नहीं लगा। उन्होंने ऐसा करने वाले सहकर्मी पर तत्काल उंगली-निर्देश कर उसे सजग कर दिया। हाथ धोने के लिए वे बहुत सीमित पानी का उपयोग करते थे। थोड़े-से पानी से होने वाले कार्य के लिए अधिक पानी बहाते देखकर उनकी आत्मा को पीड़ा होती थी। पलंग को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने का प्रसंग होता तो वे यह ध्यान रखते थे कि पलंग के घसीटने से किसी जीव का वध न हो जाए। उनके पांव साफ करने के लिए जो पत्थर रखा जाता, उसे भी प्रमादवश कहीं खो दिया जाता तो उन्हें कष्ट का अनुभव होता था। गांधी के जीवन से जुड़े हुए ऐसे बहुत-से प्रसंग हैं, जो उनकी आध्यात्मिकता या अहिंसा की निष्ठा को उजागर करते हैं। अहिंसा को इस रूप में जीने वाले व्यक्ति ही अहिंसा का सक्रिय प्रशिक्षण दे सकते हैं।

अहिंसा के संदर्भ में महावीर की दृष्टि

महात्मा गांधी का जीवन-प्रसंग पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्होंने अहिंसा का पूरा पाठ भगवान महावीर से ही पढ़ा था। प्रकृति के प्रति महावीर का दृष्टिकोण सदा सकारात्मक रहा। उन्होंने कहा—

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू।।

पृथ्वी का खनन करना और कराना हिंसा है। शीतोदक पीना और पिलाना हिंसा है। शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को जलाना और जलवाना हिंसा है। जो इस हिंसा से उपरत रहता है, वह भिक्षु है।

भगवान महावीर ने पृथ्वी, पानी की तरह पंखे आदि से हवा करने को, हरियाली के छेदन-भेदन को और त्रस प्राणियों के वध को भी हिंसा बताया। प्रकृति का असीम दोहन करने वाले लोग महावीर के इस बोधपाठ से थोड़ी भी प्रेरणा ले सकें, तो उनके जीवन पर अहिंसा का प्रभाव हो सकता है। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि भगवान महावीर के प्रति आस्थाशील उनके अनुयाई समाज में अहिंसा के प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। यही कारण है, जैन समाज में भी विशेष प्रसंगों पर फलों और सब्जियों को पशु-पक्षियों का आकार देकर सजाया जाता है। शाकाहारी भोजन को ऐसी अभिधा दी जाती है, जो उसके मांसाहारी होने का भ्रम पैदा करती है। इससे अनर्थ हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए अहिंसा के प्रशिक्षण में ऐसी व्यावहारिक बातों को भी जोड़ना चाहिए, जो अनचाहे ही देश की भावी पीढ़ी को हिंसा की दिशा में धकेलती हैं।

कठिन, पर असंभव नहीं

कुछ लोग सोचते हैं कि अहिंसा के प्रशिक्षण की बात अच्छी तो है, पर कठिन है। प्रशिक्षण किसी चीज का हो, वह सरल कैसे हो सकता है? हिंसा का प्रशिक्षण भी सरल कहां है?

अहिंसा का प्रशिक्षण कठिन है, फिर भी इतना कठिन नहीं, कि उसे कोई पा ही नहीं सकता। मूल बात है आस्था की। पहले इस आस्था का निर्माण होना जरूरी है कि अहिंसा एक शक्ति है। अभ्यास से उस शक्ति को पाया जा सकता है, बढ़ाया जा सकता है और उसका उपयोग किया जा सकता है।

अहिंसा के प्रशिक्षण से हिंसा समाप्त हो जाएगी, यह चिंतन अतिकल्पना से प्रसूत है। हिंसा समाप्त होने का अर्थ है संसार की समाप्ति। जब तक संसार है, मनुष्य में काम, क्रोध आदि निषेधात्मक भाव रहेंगे। जब तक निषेधात्मक भाव हैं, हिंसा की सत्ता को निःशेष नहीं किया जा सकता। हिंसा को मिटाया नहीं जा सकता, पर उसकी उग्रता को कम किया जा सकता है। अहिंसा के प्रशिक्षण की सबसे बड़ी सार्थकता यही है कि हिंसा के जो नए-नए चेहरे मानवीय गुणों को लीलने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं उन्हें निष्क्रिय बनाने का प्रयत्न चलता रहे।

हिंसा कौन करता है? इस संदर्भ में महावीर वाणी को उद्धृत किया जा सकता है। 'आयारो' में हिंसक व्यक्ति की अंतरंग पहचान देते हुए लिखा गया है—'अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए'—जो मनुष्य-लोक आर्त है, विषय-कषाय आदि मानसिक दोषों से पीड़ित है, वह हिंसा में प्रवृत्त होता है। जो परिजीर्ण है, अभावग्रस्त है, पदार्थ को पाने की अभिलाषा होने पर भी उससे वंचित रहता है, वह हिंसा करता है। जो दुस्संबोध होता है, सैंकड़ों प्रयत्न करने पर भी संबोध नहीं पा सकता, वह हिंसा की दिशा में कदम रखता है। जो अविज्ञायक होता है, तत्त्व को नहीं समझता, वह हिंसात्मक प्रवृत्ति में प्रवृत होता है। घूम-फिरकर बात उसी बिंदु पर पहुंचती है कि जो मनुष्य आतुर है, अस्वस्थ है, वह हिंसा करता है। उसे हिंसा से बचाने के लिए मानसिक दृष्टि से स्वस्थ करना आवश्यक है। स्वस्थ होने का एकमात्र उपाय है अहिंसा का प्रशिक्षण। प्रशिक्षण का संबंध उपदेश से नहीं, आचरण से है। हिंसा मत करो, यह उपदेश है। जिस दिन मनुष्य के आचरण से हिंसा निकलेगी उसी दिन प्रशिक्षण अर्थवान बन सकेगा। ❖

भारतीय संस्कृति की मूल्य..... पृष्ठ 16 का शेष

है कि उदासीनता निष्क्रिय नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन व्यापक, आंतरिक तथा सघन क्रियाशीलता की मांग करता है। इस क्रियाशीलता के स्तर पर समझा जा सकता है कि आध्यात्मिक जीवन से संपन्न व्यक्ति, साधु या संत अपनी तटस्थ, उदासी और वैराग्य-वृत्ति में भी अत्यंत संवेदनशील, माधुर्यमय तथा मानवीय गुणों से युक्त होता है। वस्तुतः वह सृजनशील मूल्यबोध की जिस भूमिका में संचरण करता है, वह उसके व्यक्तित्व को पूर्णतः प्रभावित करती रहती है। यह तो है ही, इस भूमिका तक वह इन मूल्यभूमियों के माध्यम से पहुंचा है। चिंतकों ने मैत्री, करुणा, मुदिता, दया, प्रेम आदि को साधना के सहायक गुण माने हैं।

आध्यात्मिक साधना की तटस्थता भावमूलक है। यह समझना गलत है कि आध्यात्मिक जीवन में मानवीय भावजगत का निषेध है। कलात्मक अनुभव के समान आध्यात्मिक अनुभव तटस्थता की मांग करता है, क्योंकि सृजनशीलता के स्तर पर मूल्यों की निर्वैयक्तिक उपलब्धि ही संभव है। कलात्मक सृजन में अन्य मूल्यस्थितियों का अंतर्भाव रहता है और सृजनशीलता में इन सबसे तटस्थ या निरपेक्ष रहकर रचनात्मक मूल्योपलब्धि संभव होती है, जबकि आध्यात्मिक जीवन में अन्य मूल्यों का अतिक्रमण कर परम श्रेयस् की ओर उन्मुख सृजनशील संभावनाओं की उपलब्धि का प्रयत्न होता है। कलात्मक अनुभूति तथा आध्यात्मिक अनुभूति में यह अंतर महत्त्वपूर्ण है। पहले तो कलात्मक अनुभव का परम मूल्य के रूप में कोई लक्ष्य नहीं होता; दूसरे, वह केवल उपलब्धि का विषय नहीं है, अभिव्यक्ति का विषय भी है। आध्यात्मिक जीवन के लिए चाहे जितना धुंधला या अस्पष्ट हो पर परम श्रेयस् रूप चरम मूल्य-निर्दिष्ट होता है और अभिव्यक्ति उसकी अनिवार्यता नहीं है। परंतु सृजनात्मक स्तर पर कला की सौंदर्यानुभूति और अध्यात्म की रहस्यानुभूति अपने निर्वैयक्तिक रूप में इतने निकट आ जाती हैं कि एक में दूसरे का संक्रमण होना संभव होता है। काव्यानुभूति की उच्चतम भूमि आध्यात्मिक रहस्यानुभूति के समान विराटत्व, अनंतता, अद्वैत, पूर्णानंद, अस्तित्वबोध को आत्मसात् कर लेती है और आध्यात्मिक रहस्यानुभूति में न केवल सौंदर्य, माधुर्य तथा अन्य कोमल सूक्ष्म संवेदनाओं का अंतर्भाव रहता है, वरन् काव्य के समान मिथकों, प्रतीकों, बिंबों, रूपकों में वह अभिव्यक्ति भी ग्रहण करती है। ❖

लेकिन घूमकर बहुत बार मैं अपने उस गांव की सीमा पर पहुंचता हूं। जैसे पूरे ब्रह्मांड में घूमकर वहां जा खड़ा होता हूं। छोटा था और स्कूल में पढ़ता था तब पुस्तक पर नाम के साथ पूरा पता लिखता था। पूरा, अर्थात्? अर्थात् नाम, पिता का नाम, दादा का नाम, फिर अल्ल; फिर गली, मुहल्ला, गांव, तालुका, जिला और राज्य। फिर लिखता देश हिंदुस्तान, खंड एशिया, फिर पृथ्वी और अंत में आता ब्रह्मांड। अब उल्टे क्रम से सब पार कर, गांव की सीमा पर।

◆ भोलाभाई पटेल

तेषां दिक्षु

ये शब्द मेरे लिए जैसे जादू की खड़ाऊ बन जाते हैं। उन्हें पहनकर मन उड़ने लगता है। उस दिशा में केवल विदिशा नहीं, दसों दिशाएं हैं—सात समुद्र, तेरह नदी, पहाड़, पर्वत, नगर, जनपद, वृक्ष, जंगल...फिर आता है मेरा छोटा-सा गांव, जिस गांव से मैं निर्वासित हुआ हूं—मेरा वह गांव।

मुझे हमेशा यह लगता है कि मेरे उस गांव की सीमा से होकर एक नदी बहती होती तो कितना अच्छा होता! शैशव, किशोरावस्था नदी के किनारे बीता होता, ऋतु-ऋतु पर नदी को अलग-अलग रूप में देखा होता। कोई कभी पूछता है, 'आपके गांव के पास से कौन-सी नदी बहती है?'—तो उत्तर में केवल निःश्वास निकल पड़ता है। हां, गांव की सिवान पर तालाब है। गर्मी के दिनों में वह कभी सूख भी जाता है।

नदी नहीं है तो नहीं है, लेकिन ऐसा लगे तो भले ही लगे। लेकिन मेरा गांव किसी पहाड़ की तलहटी में होता तो कैसा रहता! घर से बाहर निकलते कि पहाड़ आवाज देता होता। पहाड़ों पर देवालय होता। उस देवालय तक पगडंडी जाती होती। एक श्वास में चढ़ जाता। बहुत बड़ा पहाड़ नहीं। ऐसा पर्वत होता, जैसे लगता कि गांव उसकी ऊष्मा में सो रहा है, पार्श्व में छिप रहा है, अंग्रेजी में 'नेसल' क्रिया है न, उसी तरह। लेकिन सपाट खेत हैं, मेरे इस गांव के चारों तरफ। दो-तीन छोटे-बड़े टीले हैं। उनमें एक खाई जैसा टीला है। वहां एक बखार के नीचे सांप के बड़े-बड़े बिल थे। मैंने भी वहां सांप देखे थे। वे सांप बिल के नीचे गड़े धन की रखवाली करते थे।

नदी नहीं है, पर्वत भी नहीं है, लेकिन गांव से बाहर निकलते ही कोई घना जंगल शुरू हो जाता तो कितना अच्छा होता! अंतहीन जंगल! छोटी-बड़ी पगडंडी अंदर दूर-दूर तक ले जाती होती। उसमें जंगली प्राणी भी होते। बीच में कहीं सरोवर भी मिलते होते। बचपन में प्रेमानंद की कविता पढ़ते-पढ़ते जंगल का जो वर्णन पढ़ा था—उस 'वैदी वनमां वलवले' शीर्षक कविता में—उसी के जंगल की कल्पना की थी। हां, वैसा जंगल नहीं है। एक बड़ा चरागाह गांव के पूरब में है, खिरनी और बबूल हैं। पहले बहुत सुनसान था, अब नहीं है। अब उस चरागाह के बीच से होकर एक पक्की सड़क जाती है।

नदी नहीं है, पर्वत भी नहीं है और जंगल भी नहीं है। यह अभाव तो है ही, लेकिन मेरे इस गांव के विषय में कुछ काव्यात्मक भी नहीं मिलता। कुछ असाधारण नहीं है। गांव के सिवान पर बांध जैसा कुछ नहीं है, गांव का कुछ छोटा-बड़ा इतिहास भी नहीं है। गांव पुराना तो लगता है। पहले जहां घर थे, वहां अब खेत हैं। गांव की उत्तर दिशा में जो काली मां थी वह लगभग दक्षिण दिशा की गलियों-मुहल्लों के बीच आ गई हैं। हमारा घर वहीं पास में है।

दादाजी कई बार उंगली से दिखाते हुए कहते—वहां बड़ा-सा कुआं था और वहां दूर सुंदर महल था। गांव के एक ठाकुर ने एक पटेल की लड़की के साथ मजाक किया था। पटेल चुप रहा। फिर एक भोज में सभी ठाकुरों को आमंत्रित किया। भोजन कर बाहर निकलते ठाकुरों को काट-काटकर उस कुएं में डाल दिया। मेणा भील को बुलवाया था। फिर उस कुएं को बंद कर दिया। एक ठाकुर की पत्नी अपने मायके गई थी, वह मात्र बच गई। गांव में आज ठाकुरों के दो सौ घर हैं, उस ठाकुर की पत्नी की वजह से। दादा बताते हैं—वहां

खोदने पर अभी भी कुआं मिलेगा...मानो या न मानो, इतना ही इतिहास है। वह भी कहीं लिखा हुआ नहीं है। ऐसा हो कि मेरे गांव में किसी पुराने नगर के अवशेष मिल जाते तो उसका क्या इतिहास है, पत्थर-पत्थर पर ढूंढता।

गांव के पड़ोस में भी कोई प्रसिद्ध स्थल नहीं है। दो मील दूर जंगल के बीच वासुदेव महादेव का मंदिर है। एक अकेला मंदिर है। जन्माष्टमी पर वहां मेला लगता है। महादेव बहुत पुराने हैं। उसकी कथा है। कथा यों है कि भगवान स्वयंभू ज्योतिर्लिंग रूप में पाताल से प्रकट हो रहे थे। वे बाहर निकलने ही वाले थे कि पास ही एक चरवाहा पशुओं को चराता वहां आ पहुंचा। उसी तरफ भगवान पाताल से ऊपर उठ रहे थे और वह चरवाहा 'हां...हां...' कहता आगे जा रहे पशुओं को रोक रहा था। भगवान को लगा कि यह शब्द उनके लिए कहे गए हैं। इसलिए वे वहीं रुक गए। शिवलिंग जमीन में दो-तीन हाथ नीचे ही रह गया। वहां से नीचे पाताल है और वह पाताल एकदम अंबा के पर्वत पर जाकर निकलता है।

बचपन में हमारे आस-पास के दो-चार गांवों तक गति थी। वे सभी गांव मेरे गांव जैसे ही थे। फिर हमारे यहां बहुत ठंड नहीं, बरसात भी खास नहीं, लेकिन गर्मी जरूर पड़ती थी। बहुत बरसात होती तो बाढ़ जैसी स्थिति हो जाती न। हां, वर्षों पहले की एक घटना आज भी लोग याद करते हैं। गांव में हैजा फैला था, तब सारे लोग खेतों पर छप्पर डालकर एक महीने तक रहे थे। यह घटना मेरे सामने की नहीं है। बस, हर कहीं सपाट-सपाट दिखता।

इसलिए मन कल्पनाएं करता, और वह भी कर-करके कितनी करे? सीमा पर गर्मी के दिनों में, जब खेत खाली पड़े होते तब पोमलां (लड़ैत) आते। जिप्सी लोग होंगे। हम पोमलां कहते। उनके साथ कुत्ते और लदुआ बैल होते। महीने-दो महीने रहते। वे कंघी-सुई बेचते। तरह-तरह का काम करते। बरसात शुरू होने को होती कि उनकी दूकानें उठ जातीं। इस तरह पाड़े पर चक्की के पत्थर लादकर सान धरने वाले आते, रहते और चले जाते। एक बार तो बनजारों के बैलों का एक बहुत बड़ा झुंड आया। दौड़कर हम सीमा तक गए। झुंड चला गया। कई दिनों तक हम बनजारों की बातें करते रहे। कई बार कच्छी-अहीर (मवेशी पालकर गुजर करने वाले) आते। ऊंट पर सारा घर होता। इस तरह घूमने को मिले तो? रवीन्द्रनाथ की कविता 'आमि हते यदि आरब बेदूईन...' तो फिर बड़े होने पर पढ़ी, लेकिन ऐसी वृत्ति बचपन में कई बार हुई और बनजारों की बातें तो दूर, और दूर ले जातीं। डाक्टर मोतीचंद्र की 'सार्थवाह' पुस्तक में शाह-सौदागरों के जमीनी और समुद्री मार्गों पर कल्पना से विचरने को मिला। कितने-कितने मार्ग! एक चित्र बहुत बार नजर के सामने आता रहा है। खैबर घाटी से आते बनजारे...दुर्लंघ्य उन पहाड़ों के बीच के टेढ़ेमेढ़े संकरे रास्ते से बनजारों की लंबी-लंबी टोली आ रही है।

लेकिन उन दिनों में कोई आबु, अंबाजी हो आया होता तो वहां की बात करता, 'अनुकूलता नहीं थी, लेकिन माताजी की आज्ञा हुई तो यात्रा हो गई। अंबाजी तो अंबाजी! और गब्बर की पहाड़ी तो...' मैं सोचता कि हमें माताजी की आज्ञा कब होगी? हमारे एक रिश्तेदार को तो बदरीनाथ की आज्ञा हुई। चार-चार महीनों की यात्रा पर गए। पैदल चलकर। वहां से आकर हिमालय की और गंगा की बातें करते। उनकी बातों में नदियां, छोटे पर्वत और जंगल सब कुछ आता। मन वहां पहुंच जाता। हमें भी बदरीनाथ की आज्ञा हो...

हमारे यहां एक गृहस्थ बाबाजी आए। साधु हो गए थे, फिर गृहस्थ। देश में बहुत घूमे। तरह-तरह की बातें बताते। भोज और कालिदास की बातें। धारानगरी और उज्जैननगरी की बातें। उन्होंने मेरा हाथ देखकर मेरे पिताजी से कहा था, 'इस लड़के के भाग्य में सरस्वती नहीं, लक्ष्मी है।' पिताजी खुश हुए। मुझे आज भी याद है कि मैं तब उदास हो गया था। हथेली रगड़-रगड़कर देखता कि कहां है सरस्वती, कहां है? मुहल्ले की काशी बुआ ढेरों जैन कथाएं कहतीं। उन कथाओं में देश-देशांतर घूमने की बात होती थी। इस कारण काशी बुआ की बात मन में अंकित हो गई। तभी पढ़ी बत्तीस पुतली की कथा। उज्जैन का परदुखभंजन राजा विक्रम नकाब लगाकर नगरचर्चा सुनने निकल पड़ता...भयंकर रोमांचक...मन हाथ में रहता नहीं।

रामायण में राम के साथ सरयू तट की अयोध्या से लंका तक पहुंचा जा सकता है, और पांडव तो अर्जुन के साथ-साथ वन-वन ही रहे।

गजरामारू की कथा ने तो कल्पना को खुली छूट दे दी थी। रानी के सौतेले बेटे को बाप ने देश निकाला दे दिया था। कोई लिखित या मौखिक आज्ञापत्र नहीं। काली घोड़ी और काला वेश भेज दिया। वह काला वेश पहनकर काली घोड़ी पर बैठ पिता का देश छोड़कर निकल गया...मन दिशाओं-दिशाओं तक जाता। लेकिन वास्तव में तो दो-चार कोस पैदल चलने को मिलता। फिर गांव में मोटर-बस शुरू हुई।

चौरे के पास खड़ी रहती। वह वहां से जब तक जाती नहीं तब तक हम वहां से हटते नहीं थे। जाती हुई मोटर के पीछे लटकते, गिरते भी। फिर धूल उड़ाती मोटर को जाते हुए देखते रहते थे। एक घंटे में कलोल पहुंचेगी। अभी भी याद है,

पहली बार कलोल में गाड़ी में बैठना पड़ा। गाड़ी में भीड़ नहीं थी, फिर भी खिड़की के पास खड़ा रहा। अहमदाबाद देखकर तो चकित था, घर में तो रुकना ही नहीं था, सारा दिन सड़क पर ही रहता।

जैसे-जैसे इतिहास-भूगोल पढ़ते गए, वैसे-वैसे कल्पना की कालगत और स्थलगत सीमाएं बढ़ती गईं। भूगोल में नदियों और पहाड़ों के नाम रटने पड़ते। गुजरात की—बड़ौदा राज्य की नदियां, भारत की नदियां। संसार की बड़ी-से-बड़ी नदी कौन?

मिसिसिपिमिसूरी! बड़ी में बड़ी नदी? एमोजन। ऊंचे से ऊंचा पहाड़? हिमालय। बड़े से बड़ा मैदान? बड़े से बड़ा सरोवर? बड़े से बड़ा नगर? बड़े से बड़ा जंगल? अंधेरा मुल्क अफ्रीका और उसके जंगल। उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव के हिम प्रदेश। अटलांटिक और पेशिफिक, लेकिन मुझे अच्छा लगता अपना अरब सागर। हिंदुस्तान का नक्शा बनाकर तिरछे अक्षरों में लिखते—अ र ब सागर आदि। आंबा तालाब से अरब सागर।

फिर विश्वयुद्ध का वर्ष आया। जापान और जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस—ये नाम आए। हम जर्मनों के प्रशंसक थे। जर्मनों ने हमारे देश की विद्या से बम बनाना सीखा है, यह हम दृढ़ता से मानते थे। भूगोल में चित्र-विचित्र नाम आते और रोमांच होता। ऐसा एक नाम है टिंबकटु। तरह-तरह के उच्चारण के साथ बोलते।

धीरे-धीरे गांव की सीमा से बाहर जाने को मिला। नदियां देखने को मिलीं, शहर देखने को मिले! उत्तर भारत की यात्रा ने तो जैसे तमाम बंद दिशाओं के द्वार एकाएक खोल दिए। तेषां दिक्षु...नदी देखी तो गंगा, पहाड़ देखा तो हिमालय, नगर देखा तो दिल्ली, चित्तौड़, उदयपुर, नाथद्वारा और एकलिंगजी, हरिद्वार और ऋषिकेश, गोकुल, मथुरा और वृंदावन, देहरादून और मसूरी, आगरा और जयपुर।

जैसे-जैसे अवसर मिलते गए, वैसे-वैसे छोटी-बड़ी यात्राएं होती गईं। अनेक नदियां देखीं। कश्मीर की झेलम और दक्षिण की कावेरी। गंगा-यमुना और ब्रह्मपुत्र। ब्रह्मपुत्र के किनारे तो लगातार बारह दिन रहा। उसमें भी डिब्रूगढ़ की ब्रह्मपुत्र तो 'रिवरव्यू होटल' की खिड़की से बाहर ही बहती थी। गोहाटी में भी बरामदे में बैठे-बैठे उसके दर्शन होते। अनेक पहाड़ देखे। उत्तर और पूर्व हिमालय, अरावली और विंध्य, अनेक वन-जंगल देखे। कितने ही नगरों में सूर्योदय और सूर्यास्त देखा। कई समुद्र-तटों की लहरों की मस्ती देखी। रांबो की 'ड्रकन बोट' की तरह लहरों में उछला हूं।

गाड़ी के डिब्बे के पास घंटों बैठकर गांव, खेत, नद-नदी और नगर देखे हैं। खिड़की के पास बैठना बहुत अच्छा लगता। लंबी दूरी तय करती गाड़ी दौड़ती रहती है। सुबह होती है, दोपहर होती है, शाम ढलती है और गहन अंधेरे में भी गाड़ी दौड़ती रहती है। स्टेशन आते हैं। कभी भीड़-भरा प्लेटफार्म दिखता है, कभी निर्जन। बस, ट्रक, हवाई जहाज—सबकी गति आकर्षित करती रही है। कई दिनों तक बाहर रहने के बाद घर की याद आने लगती है। लेकिन घर आने के बाद घूमने जाने की वृत्ति फिर से होने लगती है। मन चंचल हो उठता है। रवि ठाकुर की पंक्तियां याद आ जाती हैं, मैं भी जैसे 'बासासाडा' पक्षी की तरह बाहर जाने के लिए तड़पता हूं :

'हेथा नय, अन्य कोथा, अन्य कोथा, अन्य कोन खाने'
(यहां नहीं, दूसरे कहां, दूसरे कहां, दूसरे किसी ठिकाने।)

कितना बड़ा देश है यह हमारा! पूरा जीवन घूमें तो भी पार नहीं आएगा। अकेले हिमालय के लिए एक जन्म कम पड़ेगा। फिर कितने पहाड़, नगर, समुद्र-तट! कितना भव्य अतीत! लगता है कि सब-का-सब घूम लें।

उसके साथ पोंपी, रोम के प्राचीन खंडहरों में तथा एथेंस की पहाड़ियों पर घूमने की चाह है। जर्मनी की 'राइन' नदी के किनारे पुराने दुर्गों में और अल्डेननाल्ड—पुराने जंगलों में घूमने की चाह है। इच्छा है पेरिस और वियेना के राजमार्गों पर चलने की, लुव्र और ब्रिटिश म्युजियमों में कई दिनों तक बंद रहने की, काबुल, कांधार और समरकंद, बुखारा जाने की। लेकिन इनसे भी अधिक आकर्षण है तिब्बत-चीन का। तिब्बत तो अब रहा नहीं। अब नाम शेष हो गए, वहां के किसी प्राचीन मठ में बैठ प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने का यदि अवसर मिला होता! मध्य एशिया के गोबी के मैदान में एकाध रणद्वीप में, किसी बौद्धविहार में यदि रहने को मिला होता! और जावा-बालि-सुमात्रा? बोरोबुदर का वह विराट मंदिर! कल्पना में बहुत बार इन सब जगह पहुंच जाता हूं। कल्पना के बीच स्थल काल के बंधन कहां रुकावट डालते हैं?

कभी कालिदास के मेघ के साथ यक्ष की अलकानगरी में गया हूं। स्वप्न-नगरी अलका, कैलाश के उत्संग में प्रेमिका की तरह बैठी अलका। इस स्वप्न-नगरी में आनंद के आंसुओं के सिवा दूसरे आंसू नहीं हैं। कामदेव के ताप के सिवा दूसरा ताप नहीं, प्रणय के कलह के सिवा दूसरा कलह नहीं, यौवन के सिवा दूसरी कोई अवस्था नहीं। वहां मंदाकिनी के पानी से ठंडी हवा चलती है और मंदार की छाया में कन्याएं सुनहरी रेत में मणि छिपाकर ढूंढ़ने का खेल खेलती हैं। यहां का कल्पवृक्ष

जो मांगो, वह देता है। यहां कोई अभाव नहीं है, अशांति नहीं, मात्र सुख है। यह स्वप्न-नगर है—स्लाराफनलांड। रवि ठाकुर कहते हैं जिसे 'सब पेयेछिर देश'। संसार के कलकोलाहल के बीच आदमी वहां कभी-कभी रह आता है। हर एक की अपनी एक अलकानगरी होती है।

लेकिन घूमकर बहुत बार मैं अपने उस गांव की सीमा पर पहुंचता हूं। जैसे पूरे ब्रह्मांड में घूमकर वहां जा खड़ा होता हूं। छोटा था और स्कूल में पढ़ता था तब पुस्तक पर नाम के साथ पूरा पता लिखता था। पूरा, अर्थात्? अर्थात् नाम, पिता का नाम, दादा का नाम, फिर अल्ल; फिर गली, मुहल्ला, गांव, तालुका, जिला और राज्य। फिर लिखता देश हिंदुस्तान, खंड एशिया, फिर पृथ्वी और अंत में आता ब्रह्मांड। अब उल्टे क्रम से सब पार कर, गांव की सीमा पर।

वहां वह 'आंबा' तालाब है। बरसात में वह भर जाता है और गर्मी में सूख जाता है। ठंड में अपने में सिमटकर पड़ा रहता है। उस 'आंबा तालाब' के मृगजल में मेरा शैशव खो गया है। वहां स्वयं लकड़ी काटकर लट्टू बनाए हैं और नचाए हैं। हाकी और गुल्ली-डंडा खेला है। बबूल की छाया में बैठकर बबूल के कांटे पांव से निकाले हैं, नंगे होकर नहाए हैं। उस तालाब के शिवाले से थोड़ी दूर गांव का श्मशान है। आंबा तालाब में वर्षों से अनेक चिताओं की आभा पड़ती रही है। उस श्मशान के निकट से ही मेरे खेत का रास्ता जाता है। बचपन में अंधेरा होने पर खेत से घर आते हुए सुलगती चिता के निकट से गुजरते हुए भय से चौंक उठा हूं। बहुत बार चिता जलाने वाले चले गए होते, श्मशान में मात्र चिता होती। धुंधलके की परछाईं में भूत के भ्रम से छाती की धड़कन बढ़ जाती। इस श्मशान में मेरे पूर्वज भस्मावशेष हो गए हैं। उनकी भस्म आंबा तालाब के आस-पास ही फैलकर, आस-पास के वृक्षों में उग आई है। क्या मैं भी अंत में यहां आऊंगा? यह मेरा गांव। भले यहां नदी नहीं है, पहाड़ नहीं है, जंगल नहीं है, सागर नहीं है, सरोवर नहीं है, लेकिन अब ये सब मेरे में हैं—सब कुछ।

लेकिन वहां अधिक रहना होता ही नहीं है। उस गजरामारू की तरह पिता के गांव से निर्वासित हुआ हूं, स्वेच्छा से। महानगर की सड़कों पर गर्मी की किसी दोपहर में चलते-चलते उस निर्वासन का बोध तीव्र हो आया है। लेकिन संसार का रोज-ब-रोज का काम सबके साथ जोड़ देता है। लेकिन फिर शूल उठता है—हेथानय, हेथानय...

तब मन तेषां दिक्षु की जादुई खड़ाऊ पहन लेता है।

❖

तुलसी महाप्रज्ञ मानव कल्याण केंद्र बीदासर

मोटापा, रक्तचाप, हृदय रोग, अस्थि-संधि दर्द, कमर दर्द, आर्थराइटिस, कैंसर की प्रारंभिक अवस्था, बवासीर, वायु रोग, कोलाइटिस, मधुमेह, अल्सर, सिर दर्द, माइक्रोन, अनिद्रा, प्रतिश्याय, एलर्जी, चर्म रोग तथा अन्य कष्टदायक रोगों से परेशान रोगी रोग-निदान तथा समुचित उपचार के लिए तुलसी महाप्रज्ञ मानव कल्याण केंद्र (जैन विश्वभारती लाडनूं का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम), बीदासर (चूरू-राजस्थान) 331501 से संपर्क करें।

उपचार में प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया जाता है। यहां प्रयुक्त उपचार पद्धतियों में मुख्य पद्धतियां हैं—हाइड्रोथेरेपी, मडथेरेपी, फीजियोथेरेपी, एक्यूप्रेशर, मेग्नैट थेरेपी, योग थेरेपी, कोसन इरिगेशन, जेट मसाज, हाडोजेट, स्प्रे मसाज, वायु चिकित्सा, आकाश चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, हर्बल आयल मसाज, बाडी आवरहालिंग प्रोग्राम इत्यादि।

चर्म रोग पर अनुसंधान एवं उपचार की विशेष व्यवस्था है।

प्रभारी

तुलसी महाप्रज्ञ मानव कल्याण केंद्र

उपवास शारीरिक व मानसिक विकारों को दूर करता है। क्रोध आदि कषाय उपशांत होते हैं और इंद्रियों को शक्ति मिलती है। वे अपना कार्य सरलता व सुगमता से करती हैं। जब उपवास हमारे शरीर को हर तरह से लाभ पहुंचा सकता है, तब कोई कारण नहीं कि वह हमारे मन और आत्मा को संस्कारित न कर सके व आत्मिक बल न बढ़ा सके।

◆ मुनि रमेशकुमार

तन-मन की शुद्धि के लिए उपवास

हर व्यक्ति शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करता है, किंतु सफलता कम ही व्यक्तियों को मिलती है। बीमारियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। जो व्यक्ति शरीर के नियमों को नहीं जानते हैं, अपने शरीर के प्रति जागरूक नहीं होते हैं, वे अपने शरीर को बीमारियों का घर बना लेते हैं। 'शरीर व्याधि मन्दिरम्' भी कहा जाता है, पर यह वास्तविक सचाई नहीं है। शरीर कभी व्याधि का मंदिर नहीं होता है, पर हम ही शरीर के आहार-विहार और नीहार के नियमों का उल्लंघन कर इसे व्याधि का घर बना देते हैं।

शरीर की आरोग्यता प्राप्त करने का सबसे अच्छा उपाय है—इस के नियमों को जानना व समझना। बिना जाने-समझे स्वास्थ्य का बोध नहीं होता। इसलिए आवश्यक है कि उन नियमों का ज्ञान करें। सामान्यतः हर व्यक्ति का यह विश्वास है कि हम भोजन करते हैं इसलिए जीते हैं, लेकिन यह पूर्ण सत्य नहीं है। सत्य यह है कि हम भोजन के संयम से जीते हैं। शरीर के लिए भी खाद्य संयम अत्यंत आवश्यक है। जो व्यक्ति सुबह से सायंकाल तक खाता ही रहता है, वह स्वस्थ कैसे रहेगा? शरीर की शक्ति को बनाए रखने के लिए आयुर्वेद में कहा है—'लंघनं परमौषधम्' लंघन शरीर को अपनी स्वाभाविक और आरोग्य स्थिति तक पहुंचाने में बहुत अधिक सहायक है। शरीर को स्वस्थ रखने का एक उपाय है—निराहार। निराहार से हम मानसिक एवं शारीरिक बीमारियों से मुक्त हो सकते हैं।

उपवास और स्वास्थ्य

भारत में प्रायः जितने धर्म-संप्रदाय हैं, उन सब में किसी न किसी रूप में उपवास या व्रत की परंपरा रही है। इससे धर्म के प्रति सतत जागरूकता बनी रहती है और शरीर को भी विश्राम मिल जाता है। हिंदू धर्म में अनेक पुण्य तिथियों, पर्वों, त्यौहारों पर व्रत रखने का विधान है। जैन धर्म में आज भी लंबे उपवास रखे जाते हैं। इस्लाम धर्म में भी उपवास को धार्मिक मान्यता प्राप्त है। ईद से पहले 40 दिन तक सूर्योदय और सूर्यास्त तक निराहार और निर्जल उपवास किया जाता है। उपवास शरीर, मन और आत्मा तीनों के लिए लाभदायक है।

उपवास प्रकृति की स्वास्थ्य संरक्षक विधि है जिसके द्वारा प्रकृति हमें रोगों से बचाती है। उपवास शरीर और मन को स्वस्थ रखने की कुंजी है।

उपवास और आयुर्वेद

प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति 'आयुर्वेद' में भी उपवास को बहुत महत्त्व दिया गया है। आयुर्वेद का मत है कि शरीर में कफ, पित्त और वात ये तीनों पदार्थ जब तक समान रहते हैं, तब तक व्यक्ति नीरोग रहता है। जब इन तीनों में विषमता आती है तब व्यक्ति बीमार होता है। 'भाव-प्रकाश' में उल्लेख मिलता है लंघन व उपवास से रोग नष्ट होते हैं। उससे जठराग्नि उद्दीप्त होती है और शरीर हल्का होता है। 'सुश्रुत' के अनुसार—जिस व्यक्ति की पाचन क्रिया ठीक न हो तो लंघन से उसकी अग्नि ठीक हो जाती है। प्राचीन शास्त्रों में कहा भी है—'आहार पचति शिखी दोषनाहारवर्जितः'। अग्नि आहार को पचाती है, जब पेट में आहार नहीं रहता है तब दोषों को (रोगों को) पचाती है। आयुर्वेद के अनुसार सप्ताह या पक्ष में एक उपवास करने से शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहता है।

उपवास और वैज्ञानिक दृष्टि

उपवास से चिकित्सा पर कुछ वैज्ञानिकों ने भी प्रयोग किए हैं। उन प्रयोगों के आधार पर वे लोग उपवास को पूर्ण चिकित्सा का रूप दे रहे हैं। डा. ज्योन कीथ ने उपवास पर अनेक प्रयोग किए हैं। उनके अनुसार उपवास वृद्धावस्था को

रोकने का एक प्रमाणसिद्ध प्रयोग है। चूहों पर जब ये प्रयोग किए गए तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए। चूहों के एक दल को अत्यधिक भोजन की सुविधा दी गई, दूसरे दल को सामान्य एवं नियंत्रित मात्रा में भोजन, तीसरे दल को एक दिन भोजन (सामान्य नियंत्रित) एवं एक दिन का उपवास। दूसरे दल के चूहे पहले दल से दीर्घजीवी हुए तथा तीसरे दल वाले दूसरे से बहुत अधिक दीर्घजीवी हुए।

उपवास के दौरान शरीर का 'इम्यूनोलोजिकल सिस्टम' (प्रतिरोधात्मक तंत्र) असंदिग्ध रूप से शक्तिशाली होता है। इस तंत्र में काम करने वाले रक्त के श्वेतकण जिन्हें फेगोसाइट्स और लिम्फोसाइट्स कहा जाता है उनकी कार्यक्षमता अद्भुत होती है। लिम्फोसाइट्स के दो प्रकार हैं—बी सेल्स और टी सेल्स जो आगंतुक कीटाणुओं और विषाणुओं का प्रतिकार करते हैं। उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होने से शरीर में जमा होने वाले विजातीय तत्त्वों का पूर्ण शोधन संभव हो जाता है। इन विजातीय तत्त्वों का ही परिणाम है—कोशिकाओं का वृद्ध होना, जो अंततोगत्वा मनुष्य को वृद्ध बना देती है।

हैदराबाद में स्थित कोशिकीय और आणविक जीव विज्ञान केंद्र के प्रभारी डा. पी.डी. गुप्ता ने इस प्रचलित धारणा को गलत साबित किया है कि उपवास से शारीरिक कमजोरी आती है। वहां किए गए अध्ययनों से पता चला है कि हमारा शरीर उपवास अथवा भूखा रहने के दौरान आंत में ग्लूकोज के रूप में मौजूद 'संगृहीत खाद्य' से अधिक अंश ग्रहण करता है। संगृहीत आहार हमारे शरीर में ग्लूकोज के रूप में ग्लाइकोजीन जिगर में जमा होता रहता है, जो संकट के समय काम आता है। जब हमारे शरीर को भोजन नहीं मिलता है अथवा भूखा रहना पड़ता है तब ग्लाइकोजीन कुछ एंजाइमों की मदद से ग्लूकोज के रूप में विघटित हो जाता है और हमारे शरीर को जरूरी ऊर्जा मिल जाती है। जो व्यक्ति कभी उपवास नहीं रखता उसके शरीर की एंजाइम प्रणाली सक्रिय नहीं रहती है। नियमित ढंग से उपवास रखना शरीर के लिए हमेशा लाभकारी होता है क्योंकि उपवास से हमारी एंजाइम प्रणाली सक्रिय रहती है।

अमेरिका के विद्वान डा. ड्युड को आधुनिक उपवास चिकित्सा का जन्मदाता कहा जाता है। उन्होंने एक बार टाइफाइड के रोगी को जबरन दूध पिलाना प्रारंभ किया। रोगी के पेट में दूध टिकता नहीं था। दूध पीते ही वमन हो जाती थी। कई प्रकार की दवाइयों से उसे पचाने का प्रयास किया गया, लेकिन असफलता ही हाथ लगी। आखिर उस निराश रोगी को डाक्टर ने सब कुछ देना बंद कर दिया। परिणामतः रोगी धीरे-धीरे स्वस्थ होने लग गया। तभी से उपवास चिकित्सा पद्धति का प्रारंभ हुआ। भारत में यह चिकित्सा पद्धति अत्यंत प्राचीन है।

मानसिक चिंता, घुटन, क्रोध आदि कषाय का पाचन तंत्र पर प्रभाव पड़ता है। इससे शरीर का भी अनिष्ट होता है। उपवास से शारीरिक व मानसिक शुद्धि होती है। मन पवित्र बनता है। उपवास शारीरिक व मानसिक विकारों को दूर करता है। क्रोध आदि कषाय उपशांत होते हैं और इंद्रियों को शक्ति मिलती है। वे अपना कार्य सरलता व सुगमता से करती हैं। जब उपवास हमारे शरीर को हर तरह से लाभ पहुंचा सकता है, तब कोई कारण नहीं कि वह हमारे मन और आत्मा को संस्कारित न कर सके व आत्मिक बल न बढ़ा सके।

उपवास सहिष्णुता का कीमिया प्रयोग है। जो व्यक्ति उपवास की साधना करते हैं उनमें सहज ही सहिष्णुता का विकास होता है। वे अपनी संकल्प शक्ति को विकसित करते हैं। केवल भोजन न करना ही उपवास नहीं है। उसके साथ कषाय व इंद्रिय विषयों का त्याग होना चाहिए। तब पूर्ण उपवास होता है। कषाय विषयों के त्याग के बिना उपवास मात्र लंघन होता है। किसी मनीषी ने सही कहा है—

'कषाय विषयाहारः, त्यागोयत्र विधीयते।
उपवासः सविज्ञेय, शेषं लंघन कम विदु।।'

चिकित्साशास्त्र में बताया है कि सात दिन का उपवास करने से वात-जन्य रोग शांत हो जाते हैं। हजारों बीमारियां ऐसी होती हैं जिन्हें डाक्टर, हकीम असाध्य मानकर जवाब दे देते हैं। वे रोगी उपवास से ठीक हो जाते हैं। दमा, उच्च रक्तचाप, बवासीर, एग्जिमा, मधुमेह ऐसे रोग माने जाते हैं जिनका कोई स्थाई इलाज नहीं होता। इनकी चिकित्सा दीर्घकालीन उपवास के द्वारा हो सकती है।

उपवास संबंधी नियम

उपवास से विजातीय पदार्थ शरीर से निकलते हैं जिससे पाचन अवयवों की सफाई हो जाती है; साथ ही साथ शरीर के अवयवों को पोषण मिलता है। उपवास के समय निम्नोक्त नियमों की जानकारी भी अवश्य रखनी चाहिए जिससे उपवास का पूर्ण लाभ मिल सके—

1. उपवास से पहले दिन व उपवास के दूसरे दिन भी अत्यधिक भोजन न करें।
2. उपवास करते समय शांत और तनावरहित रहना आवश्यक है। तनाव-मुक्ति के लिए कायोत्सर्ग, दीर्घ-

श्वास प्रेक्षा, ज्योतिकेंद्र प्रेक्षा का प्रयोग बहुत लाभकारी होता है।

3. उपवास काल में सामान्यतः किसी भी प्रकार की ओषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उपवास एक प्राकृतिक क्रिया है, उसके साथ अप्राकृतिक क्रिया का व्यवहार नहीं करना चाहिए।
4. मादक एवं नशीले पदार्थों का उपवासकाल में सेवन नहीं करना चाहिए।

उपवास करने से रक्त शुद्ध होता है, रक्त का संचार सुधरता है, शरीर में ताजगी आती है, मन प्रसन्न रहता है, स्मरण-शक्ति का विकास होता है, इसलिए हम उपवास के महत्त्व को समझकर उसका प्रयोग करें।

उपवास मन-शुद्धि का तो सर्वोत्तम उपाय है ही, तन-शुद्धि की दृष्टि से भी यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उपवास से आत्मबल में भी अभिवृद्धि होती है।

❖

ब्रह्मचर्य के महत्त्व को हिंदू-शास्त्रकारों ने जितना समझा था, उतना शायद और कहीं न समझा गया हो, लेकिन इसका उद्देश्य संतान-निग्रह नहीं, बल्कि मनुष्य के बल-बुद्धि की रक्षा करना था। उत्तम संतान के लिए भी बल-बुद्धि की रक्षा आवश्यक थी, लेकिन हम उस आदर्श-से गिरते-गिरते यहां तक गिरे कि बाल-विवाह की भरमार होने लगी और उसे रोकने के लिए कानून बनाना पड़ा। प्राचीन आदर्श हृष्ट-पुष्ट संतानों से भरा-पूरा घर था। उस युग में आबादी की जरूरत थी और रोटी का प्रश्न इतना जटिल न था। अब जमाना बदल रहा है और संसार में जरूरत से ज्यादा आदमी हो गए हैं। इसके साथ ही बच्चों के पालन-पोषण का भार भी बढ़ गया है। हम अपने बालकों को पुष्टिकारक भोजन और अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं, और बहुत-से बच्चों का बोझ सिर पर लादकर अपनी जिंदगी नहीं तल्ख करना चाहते। साधारण वित्त के आदमी को अगर सात-आठ लड़के-लड़कियों का खर्च उठाना पड़े तो समझ लो कि उसकी और बच्चों की शामत है। अपनी भी सांसत और बच्चों की भी सांसत। इसी जरूरत ने संतान-निग्रह के विचार को जन्म दिया। इसमें तो किसी को आपत्ति नहीं है कि संतान-निग्रह आवश्यक वस्तु है। मतभेद इसी में है कि वह उद्देश्य ब्रह्मचर्य द्वारा पूरा किया जाए या कृत्रिम उपायों से। अगर ब्रह्मचर्य द्वारा हो सके तो सबसे उत्तम, लेकिन वह न हो सके, तो हम कृत्रिम साधनों को भी बुरा नहीं समझते। कुछ विद्वानों का कथन है कि हमें प्राकृतिक विधान में बाधक न होना चाहिए। क्योंकि इसका परिणाम भीषण होता है। मगर मानव-संस्कृति तो प्राकृतिक विधान के विरोध का ही नाम है। अगर हम प्रकृति-मार्ग पर ही चलते तो आज भी कंदराओं में रहते और शिकार पर जिंदगी बसर करते होते। प्रकृति पर विजय पाना तो मानवी सभ्यता का लक्ष्य ही है। हां, संतान-निग्रह के विरुद्ध जो सबसे विचारनेयोग्य बात है, वह यह है कि इससे स्त्री-पुरुष की भोग-लालसा बढ़ जाती है और विलास प्रवृत्ति पर अंकुश रखने के लिए जिस त्याग और बलिदान की जरूरत है, उसके शिथिल हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष में प्रेम-बंधन ढीला हो जाता है और वह गृहकलह और असंतोष के रूप में प्रकट होता है। इसके सिवा कुछ बीमारियां पैदा हो जाने की शंका भी रहती हैं, अतएव हमारे विचार में दंपति को अपनी जरूरत, स्थिति, स्वास्थ्य आदि का विचार करके ही इस विषय में निश्चय करना चाहिए। इसके लिए कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

—मुंशी प्रेमचंद • 'हंस', मई, 1934

जो काल, क्षेत्र, मात्रा, शरीर के लिए हितकारी, द्रव्य की गुरुता-लघुता एवं अपने बल का विचार कर भोजन करता है, उसे दवा की जरूरत नहीं पड़ती। वो अपना चिकित्सक खुद होता है।

◆ समणी भावितप्रज्ञा

आरोग्य की चाबी अपने हाथ

स्वास्थ्य का आधार हवा, पानी और आहार है। व्यक्ति बहुविध क्रियाएं करता है। क्रियाओं से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शक्ति क्षीण होती है। खर्च की हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का आधार आहार है। आहार से मांसपेशियों, स्नायुओं, कोशिकाओं का पोषण, संवर्धन, रक्षण और मरम्मत होती है। हम जो खाते हैं, उसी से शरीर निर्मित होता है। जीवन और आहार का गहरा संबंध है। जन्म लेने से पूर्व जीव आहार लेना शुरू कर देता है। गर्भधारण के पहले क्षण में प्राणी ओज आहार लेना शुरू कर देता है। रोम आहार सतत चलता रहता है। कवल आहार दिन में अनेक बार लेते हैं। आहार से ही आचार, विचार और व्यवहार की त्रिपुटी संचालित और प्रभावित होती है।

भोजन से शरीर में अनेक रसायन बनते हैं। भोजन से मस्तिष्क में न्यूरोट्रांसमीटर बनते हैं जो तंत्र के संप्रेषक होते हैं। न्यूरोट्रांसमीटर के द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। वैज्ञानिकों ने चालीस प्रकार के न्यूरोट्रांसमीटर की खोज की। ये सारे भोजन से बनते हैं। भोजन से रसायन के साथ-साथ शरीर में अनेक विषैले तत्त्व एमिनोएसिड, यूरिक एसिड आदि बनते हैं। विषैले भोजन से मानसिक समस्याएं भी पैदा होती हैं। अतः कैसा आहार करें यह जानना अत्यंत अपेक्षित है।

आहार के मुख्य दो कार्य हैं—

1. शरीर में गर्मी उत्पन्न करना और गर्मी को बनाए रखना।
2. शरीर को घिसने से रोकना।

पाचनशक्ति अच्छी बनाए रखने के लिए समतोल, पोषणयुक्त आहार की अपेक्षा है। चिकित्साविदों की दृष्टि में संतुलित आहार वह है जिसमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, खनिज-लवण, लौह, विटामिंस, शर्करा, रासायनिक द्रव्य आदि का समावेश होता है। रूखे-सूखे भोजन के साथ मधुर और स्निग्ध आहार करने से जीवन सुचारु रूप से चलता है। साथ ही साथ मेधा, बुद्धि और स्मृति का विकास होता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में संतुलित आहार का अर्थ है खाद्य, तेल, वायु, प्रकाश। सूर्य से शरीर को विटामिन 'डी' मिलता है। चमड़ी के आस-पास ऐसा द्रव्य है जहां सूर्य-किरणें पड़ती हैं तो विटामिन 'डी' उत्पन्न होता है। शरीर पर पड़ने वाली सूर्य किरणें कैल्शियम और फॉसफोरस की पूर्ति करती हैं। संतुलित आहार से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु—इन तत्त्वों का शरीर में संतुलन बना रहता है। खनिज के रूप में शरीर में पृथ्वी तत्त्व है। दूध में अभ्रक, जीरे में लौहा और मां के दूध में चांदी पाई जाती है। संतुलित भोजन की बजाय गरिष्ट खाद्य पदार्थ लेने वाले लोग स्वास्थ्य से हाथ धो बैठते हैं।

यदि व्यक्ति उचित आहार करे और आहार विधि का सम्यक् अनुपालन किया जाए तो आधे से अधिक अस्पताल स्वतः बंद हो जाएं। ओधनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा—

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिंच्छति अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।

जो मनुष्य हितभोजी, मितभोजी और अल्पभोजी होता है उसकी चिकित्सा वैद्य नहीं करते। वह अपना चिकित्सक खुद होता है। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में कहा है—

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्य-गुरु लाघवं स्वबलम्।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यः भुङक्ते किं भैषजैस्तस्य।।

अर्थात् जो काल, क्षेत्र, मात्रा, शरीर के लिए हितकारी, द्रव्य की गुरुता-लघुता एवं अपने बल का विचार कर भोजन करता है; उसे दवा की जरूरत नहीं पड़ती। वो अपना चिकित्सक खुद होता है।

जो आहार सम धातुओं को प्रकृति में स्थापित करता है और विषम धातुओं को सम करता है, वही हिताहार है। जो हितकर भोजन करता है, जो स्वाद की दृष्टि से नहीं खाता है, ऋतु के अनुसार स्वास्थ्य के मुताबिक खाता है, वह हिताहार है। सर्दी में गरम चीजें ली जा सकती हैं, किंतु गर्मी में गरम चीजें वर्जित हैं। आरोग्य-दृष्टि से गर्म वस्तुएं आंतों,

आमाशय, पक्वाशय के विरुद्ध हैं। ठंडी चीजें दांत, गला, आंत के लिए नुकसानकारक हैं। हिताहार का अर्थ है—स्वास्थ्य के अनुकूल आहार।

नमक-चीनी का अतिसेवन, तली-भुनी चीजें, मसालेदार चीजें, सड़े-गले पदार्थ, बासी खाद्य, पाव रोटी, सफेद चीनी, मिठाइयां, उत्तेजक पदार्थ, एक समय में अनेक खाद्य पदार्थ (रोटी, दाल, खीर, दूध, घी, अचार, फल, मेवे), बेमेल पदार्थ (घी और शहद, दूध और नमक या नमकीन) स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर हैं। मिर्च, मसाले, तेल, इन उत्तेजक पदार्थों के सेवन से रक्त में अम्लता अधिक बढ़ जाती है जो नानाविध रोगों का कारण होती है।

वैद्यकशास्त्र में कहा गया है—'ये गुणाः लंधने प्रोक्ताः ते गुणाः स्वल्पभोजने', उपवास करने से जो लाभ होता है, वही लाभ कम खाने से भी होता है। भगवान बुद्ध ने कहा है—एक बार हल्का आहार करने वाला महात्मा कहलाता है। दो बार संभल कर खाने वाला बुद्धिमान तथा भाग्यवान है पर इससे अधिक और बेहिसाब खानेवाला महामूर्ख, अभागा और पशु है। आगमों में उल्लेख आता है 'मायन्ने असणपाणस्स।' परिमित भोजन ऊनोदरी तप के अंतर्गत आता है। एक व्यक्ति के भोजन की मात्रा 32 कवल निर्धारित की गई है। उससे पांच, दस कवल कम खाना ऊनोदरी तप है। चिकित्सकों का कहना है—उदर का आधा भाग आहार से, चौथाई भाग जल और चौथाई भाग वायु के आवागमन के लिए खाली रखें। गांधी के शब्दों में स्वाद के लिए खाना अज्ञानता है, जीने के लिए खाना आवश्यकता है और संयम की रक्षा के लिए खाना साधना है। आहार करने का उद्देश्य स्वाद के लिए नहीं, बल्कि शरीर को दास की तरह पालने का होना चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने शील की नव बाड़ नामक ग्रंथ में लिखा है—अधिक भोजन करने से रूप, बल और शरीर ये तीनों क्षीण होते हैं। अधिक भोजन करने वाले को प्रमाद, निद्रा और आलस्य सताता रहता है। अति भोजन न केवल रोग पैदा करता है, बल्कि विषय-वासना की भी वृद्धि करता है। मनुष्य जितना खा लेता है उसका एक तिहाई भाग भी नहीं पचा सकता। जिसका परिणाम यह होता है कि बचा भोजन पेट में रहकर रक्त को विषैला बना देता है जो अनेक रोगों का कारण बनता है। इससे जीवनीशक्ति को दोहरा श्रम करना पड़ता है। एक कार्य भोजन को पचाने का और दूसरा कार्य आमाशय स्थित अनावश्यक भोज्य पदार्थ-जनित विषों से शरीर को मुक्त कराने का।

क्षमाश्रमण जिनभद्र ने वृहत्कल्प भाष्य में लिखा है—

'अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपत्ति।
नेव किलम्मइ तवसा रसेसु न सज्जए यावि।।

जो अल्पाहारी होता है उसकी इंद्रियां विषय भोग की ओर नहीं दौड़तीं। तप से वह क्लांत नहीं होता और स्वादिष्ट भोजन में आसक्त नहीं होता।

स्वास्थ्य की दृष्टि से पेट को हल्का रखना चाहिए ताकि हवा-पानी और पाचन के लिए सुगमता रहे। आचार्य सोमदेव ने नीति वाक्यामृत में कहा है—'यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते।' जो कम खाता है वह बहुत खाता है। आज का मनुष्य एक भाग अपने लिए खाता है और तीन भाग डाक्टर के लिए खाता है।

भोजन से चित्त की निर्मलता-पवित्रता भी जुड़ी हुई है। रसनेंद्रिय का संबंध काम-केंद्र से जुड़ा हुआ है। शुद्ध ईंधन शरीर में डालने से शरीर स्वस्थ, नीरोग व प्रसन्नचित्त रहता है जिससे स्वयं को पहचानने में सफलीभूत होता है।

उत्तम स्वास्थ्य, निरामय जीवन के महत्त्वपूर्ण बिंदु ध्यान देने योग्य हैं—

1. उषापान : उषापान करने से पेट साफ होता है, पेट साफ होने से रोग दूर होते हैं।
2. चबा-चबा कर खाना : चबा कर खाने से लार पाचन में मिलता है। पाचन क्रिया मुंह से ही शुरू हो जाती है। भोजन न चबाने से भोजन आमाशय में पहुंचने पर आमाशय को अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। यदि दांतों का काम दांतों से लेते रहें तो आंतें भी स्वस्थ रहती हैं। न बहुत जल्दी खाएं और न अति धीरे खाएं। 'तन्मना भुंजीत' होकर आहार करें। प्रातः जल्दी खाने से आंतों की शक्ति क्षीण होती है। इसलिए जैनधर्म में नवकारसी प्रहर का विधान है।
3. गमन योग : भोजन के बाद सौ कदम चलें। भोजन के पश्चात् पढ़ने-लिखने व मनन करने का कार्य न करें क्योंकि खाने के बाद रक्तप्रवाह जठराग्नि की ओर जाता है। चिंतन-मनन से पाचन कार्य में बाधा पहुंचती है। चंद्रस्वर में खाना वर्जित है।
4. न सोएं न पीएं : भोजन के बाद तुरंत सोने से वायु बढ़ती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन के बाद तुरंत सोना और पीना वर्जित है। एक घंटे तक पानी पीना व सोना नहीं चाहिए। यदि भोजन के समय पानी पीने की आवश्यकता हो तो एक या दो घूंट पीया जा सकता है।

5. व्यायाम : आहार से रक्त का निर्माण होता है। व्यायाम से रक्त पूरे शरीर में पहुंचता है। श्वासोच्छ्वास रक्त की शुद्धि करता है। व्यायाम से रक्तसंचार तीस गुणा अधिक बढ़ जाता है। परिणामतः श्वेतकणों एवं लालकणों की संख्या बढ़ जाती है। व्यायाम से शरीर में तापमान बढ़ता है। बढ़ा हुआ तापमान विषों को जलाता है। मल-निष्कासन और पाचनक्रिया अच्छी बनी रहती है। व्यायाम से पसीना आता है। पसीने के जरिए विजातीय द्रव्य का निष्कासन होता है। नियमित व्यायाम से कार्यक्षमता भी बढ़ती है। स्नायुतंत्र मजबूत बनता है।

आहार का परिणाम :

शक्तेर्वृद्धिः क्षतेर्पूर्तिः विजातीयस्य निर्ममनम्।
लाघवश्च प्रसादश्च भोजने परिवीक्ष्यताम्।।

1. शक्तिवृद्धि : आहार से शरीर में शक्ति का संचय होता है।
2. क्षतिपूर्ति : नैरंतिक क्रियाओं से शारीरिक, मानसिक शक्ति क्षीण होती है। आहार उस शक्ति की पूर्ति करता है।
3. विजातीयता का निर्गमन : मलों का निस्सरण न होने से धमनियां अकड़ जाती हैं। जिसके कारण बुढ़ापा जल्दी आता है। चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। बुढ़ापे का अर्थ है मलों का जमाव। अवस्था, वेग-निरोध व अति भोजन से मल-विसर्जन में मंदता आती है। व्यायाम एवं उपवास से इन तीनों अवस्थाओं में परिवर्तन किया जा सकता है।
4. लघुता : सम्यक् आहार से आलस्य, जड़ता दूर हो जाने से हल्कापन आता है।
5. प्रसन्नता : सम्यक् आहार से प्रसन्नता में वृद्धि होती है।

आहार के साथ अनाहार (उपवास), साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक होता रहे तो व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ रहता है। उपवास स्थूलता का दुश्मन है। उपवास से जो कमजोरी आती है वह भोजन छोड़ने से नहीं आती, बल्कि शरीर में जमी हुई विकृति के कारण आती है। उपवास की गर्मी प्राणशरीर तक पहुंच जाती है जिसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म शरीर कुछ शक्तिसंपन्न बनता है। उपवास से मोटापा दूर होता है, आलस्य से छुटकारा होता है, जीर्ण रोगों से मुक्ति होती है तथा श्वेतकण सामान्य बनते हैं। भावप्रकाश में लिखा है कि जठराग्नि आहार करने पर आहार को पचाती है, जबकि उपवास शरीर के दोषों को पचाकर उसे निर्मल बनाता है। रोग दूर करने तथा स्वस्थ रहने के लिए उपवास प्रकृतिप्रदत्त एकमात्र ओषधि है। अयोग्य खानपान, अनियमित जीवन, व्यसन तथा श्रम का अभाव स्वास्थ्य के बाधक तत्त्व हैं। यदि व्यक्ति आहार संयम व आहार विवेक का पूर्ण खयाल रखता है तो अपने आरोग्य की चाबी चिकित्सकों को नहीं देता है बल्कि अपने हाथ में रखता है। ❖

मनुष्य के दो पक्ष हैं—एक ओर वह स्वतंत्र है, दूसरी ओर सबसे संयुक्त। एक पक्ष को अलग करने से जो बाकी रहता है वह अवास्तविक है। जब किसी आकर्षण से मनुष्य एक ही तरफ मुड़ता चला जाता है तब संतुलन खोकर वह विपत्ति में पड़ जाता है। ऐसे समय उसके परामर्शदाता संकट दूर करने के लिए यह सलाह देते हैं कि स्वार्थ से 'स्व' को बिलकुल उड़ा देना चाहिए—सब ठीक हो जाएगा। हो भी सकता है कि इससे उत्पात कम हो जाए; लेकिन चलना-फिरना बंद हो जाने की भी आशंका है। बे-लगाम घोड़ा गाड़ी को गड्ढे में ले जाता है। लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि घोड़े को गोली मारने से गाड़ी ठीक चलेगी—लगाम के विषय में चिंता करना ही आवश्यक हो जाता है। मनुष्यों के शरीर अलग-अलग होते हैं, इसीलिए यह संभव होता है कि वे आपस में झगड़ा करें, उनमें संघर्ष हो। लेकिन सब मनुष्यों को एक ही रस्सी से बांधकर, पृथ्वी पर एक ही विशाल कलेवर निर्माण करने का प्रस्ताव बलोन्मत्त जार को ही शोभा देता है। विधाता के नियम को समूल नष्ट करने के प्रयत्न में साहस से अधिक परिमाण में मूर्खता आवश्यक होगी।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

वस्तुतः स्वाध्याय जीवन का पर्याय है। व्यक्ति जन्म-मरण की शृंखला में निरंतर कुछ न कुछ सीखता रहता है। प्रकृति के पदार्थ एवं चेतन द्रव्यों के हलन-चलन को देखकर व्यक्ति कुछ जान लेता है। पेड़ से सेव टूटकर गिरा कि एक व्यक्ति ने पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगा लिया। यह स्वाध्याय है। यह जीवन है, सत्य के प्रति गहरी जिज्ञासा। इसमें अध्ययन का भारी वजन नहीं है, किंतु जानने की सूक्ष्म सजगता है। वस्तुतः जीवन के चारों ओर की घटनाओं के प्रति सजग, चौकस पहरेदारी ही स्वाध्याय है। संभवतः इसीलिए किसी गुरु ने शिष्य को विदा करते हुए आशीष दी थी—'स्वाध्यात् मा प्रमद'।

◆ डॉ. प्रेम सुमन जैन

स्वाध्याय : ज्ञान की कुंजी

वर्तमान युग के बदलते संदर्भों में धर्म और दर्शन को संदेह की दृष्टि से देखने की आदत पड़ गई है। इतना परिवर्तन हुआ है जीने के ढंग और चिंतन की प्रक्रिया में कि प्राचीन मूल्य अर्थहीन प्रतीत होते हैं। किंतु वास्तव में ऐसा है क्या? कहीं यह हमारी जिज्ञासा, प्रतिभा और सजगता की कुंठा तो नहीं है? परिश्रम और लगन से पलायन तो नहीं है? गहराई से सोचना होगा। समाज के हर वर्ग को, व्यवस्था को इसमें सम्मिलित होना होगा। साथ ही खोजनी होंगी प्राचीन जीवन-मूल्यों की नई व्याख्याएं, नए संदर्भ। जीवन की कला स्वाध्याय पर भी यह मनन-चिंतन आवश्यक है।

आज के समाज की सबसे बड़ी कठिनाई है, अत्यधिक व्यस्तता। प्राचीन सिद्धांतों को अपनाने में यही सबसे बड़ी बाधा है। स्वाध्याय कब करें? कहां करें? जिजीविषा की दौड़ में समय ही कहां है? समाज के हर वर्ग के व्यक्तियों का यही सवाल है। उन्होंने देखा है बड़े-बूढ़ों को मंदिरों और स्थानकों में शास्त्र पढ़ते हुए। एकांत में सामायिक करते हुए। अतः यह सब सुविधा कहां से आए? इसलिए स्वाध्याय ही बंद। उसकी उपयोगिता पर ही विराम।

दूसरा बिंदु है तर्क का, हर परिणाम को नाप-जोखकर उस दिशा में प्रवृत्त होने की वैज्ञानिकता का अनुगामी होने का। अच्छी बात है यह। किंतु इसके परिणाम विपरीत भी हुए हैं। आज के व्यस्त मानव ने देखा—जो धर्म करता है, स्वाध्याय करता है उसे मिला क्या, उसके जीवन में परिवर्तन कहां आया? वह तो स्वाध्याय, धर्म के समय के अतिरिक्त मुझ से भी अधिक क्रोधी है, दुराग्रही है, जिज्ञासा से रहित है। इस समाज-दर्शन ने भी स्वाध्याय की सार्थकता को पीछे धकेल दिया। किंतु क्या इससे स्वाध्याय का महत्त्व कम हो गया? नहीं, उसे और गहराई से जानने का मार्ग खुला है।

विश्वविद्यालयों की शिक्षण-व्यवस्था, राजनीति, दंगे-फसाद आदि ने इस संबंध में एक और परिणाम दिया। 8-10 वर्षों के निरंतर अध्ययन और वैज्ञानिक प्रयोगों के बाद भी जब ग्रंथों का अध्ययन एवं प्रज्ञाओं का सत्संग स्नातक को मशाल लिए हुए सड़क पर खड़ा करता है तो घड़ी-दो घड़ी का स्वाध्याय व्यक्ति को क्या बना देगा? यह पक्ष सोचने को विवश करता है कि स्वाध्याय और ढेर-सारी किताबों का अध्ययन दोनों एक नहीं है? फिर है क्या स्वाध्याय, जिसकी सभी धर्मों में इतनी प्रतिष्ठा है? आज हजारों वर्षों बाद भी उसकी सार्थकता पर हम सोचना चाहते हैं?

वस्तुतः स्वाध्याय जीवन का पर्याय है। व्यक्ति जन्म-मरण की शृंखला में निरंतर कुछ न कुछ सीखता रहता है। प्रकृति के पदार्थ एवं चेतन द्रव्यों के हलन-चलन को देखकर व्यक्ति कुछ जान लेता है। पेड़ से सेव टूटकर गिरा कि एक व्यक्ति ने पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगा लिया।

यह स्वाध्याय है। यह जीवन है, सत्य के प्रति गहरी जिज्ञासा। इसमें अध्ययन का भारी वजन नहीं है, किंतु जानने की सूक्ष्म सजगता है। वस्तुतः जीवन के चारों ओर की घटनाओं के प्रति सजग, चौकस पहरेदारी ही स्वाध्याय है। संभवतः इसीलिए किसी गुरु ने शिष्य को विदा करते हुए आशीष दी थी—'स्वाध्यात् मा प्रमद'।

प्राचीन शास्त्रों में स्वाध्याय को तप माना गया है। बड़ी अद्भुत बात है। स्वाध्याय द्वारा महावीर ने जीवन के सत्य को उद्घाटित किया है। वस्तुतः जानने में दो ही वस्तु महत्त्वपूर्ण होती हैं—ज्ञेय और ज्ञाता। इनमें से ज्ञेय को जानना विज्ञान है और ज्ञाता को जानना धर्म है। निष्प्रयोजन पदार्थों को जानना मिथ्या ज्ञान है और ज्ञाता के स्वरूप को जानना तप है, साधना है। अतः महावीर ने कहा कि अपनी अनुपस्थिति को तोड़ने का नाम स्वाध्याय है। जब महावीर कहते हैं कि जागते हुए जिओ तो उसका आशय यही है कि स्वाध्याय में जिओ। और जो जागता हुआ जिएगा, उससे कुछ गलत नहीं हो सकता। यही उसका तप है। समस्त व्रतों का मूल है—'सर्वेभ्यो यद्व्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः।'

ज्ञाता को जानना सरल नहीं है। साधना और एकाग्र मनन की इसमें आवश्यकता है। संभवतः इस कारण ही धर्म और दर्शन के ग्रंथों को पढ़ने का क्रम स्वाध्याय के साथ जुड़ा होगा। दूसरे जड़ और चेतन के स्वरूप का ज्ञान हो जाए, इसके पीछे यह भावना थी। किंतु आगे चलकर स्वाध्याय एक परिपाटी हो गई, जिसने युवा वर्ग में स्वाध्याय के प्रति अरुचि पैदा की। आज के बदलते संदर्भों में यदि देखें तो स्वाध्याय का ऐसा प्रचलन कभी नहीं हुआ। परिवार का हर सदस्य अपने-आप कुछ न कुछ पढ़ता है और एकांत में मनोयोग से पढ़ता है। किंतु परिणाम ठीक विपरीत दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि वह समय काटने के लिए पढ़ता है, जानने के लिए नहीं, जो स्वाध्याय की पहली शर्त है।

स्वाध्याय का अर्थ है—आज से कल का श्रेष्ठ होना। श्रेष्ठता बिना दृष्टि खोले नहीं आ सकती। सत्य को पकड़ना ही होगा। और जब अध्ययन करने वाला सत्यदर्शी होता है, तो उसके दुराग्रह विदा होने लगते हैं। वह वस्तु के विभिन्न पक्षों को जान जाता है। उसका चिंतन सापेक्ष हो जाता है। यही कारण है कि जिसने जीवन भर पढ़ा हो, स्वाध्याय किया हो वह विचारों का कुबेर एवं शब्दों का मितव्ययी हो जाता है। बहुत कम बोलता है, किंतु सार्थक। ऐसे व्यक्ति को फिर पुस्तकों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। वह जहां देखता है, वहीं से कुछ न कुछ पढ़ लेता है। वस्तुतः स्वाध्याय का सही अर्थ यही है कि जहां अध्ययन में, सत्य की अनुभूति में आत्मा के अतिरिक्त और कोई सहायक न हो। यही स्वाध्याय आत्मा को परमात्मा बनाता है। साधक अध्यवसाय में बहुत कुछ गुणों की वृद्धि करता है—'प्रकास्तध्यवसायस्य स्वाध्यायोवृद्धिकारणम्'।

आज का सबसे बड़ा फैशन है, नवीनता को ग्रहण करना। चाहे वह विज्ञान के क्षेत्र में हो अथवा सभ्यता और कला के क्षेत्र में। हर जगह नए प्रयोग देखने को मिलेंगे। यह नयापन आता कहां से है? इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं—नई उमंग एवं अत्यधिक अध्ययन। एक से काम नहीं चलेगा। इसीलिए पुरानी पीढ़ी अध्ययन करके और युवा पीढ़ी नई उमंगें भरकर भी अधूरी हैं। जीवन में जागृत नहीं हैं। इसलिए जो कुछ इनसे हो रहा है, थोड़े दिन बाद गलत साबित हो जाता है। यहां स्वाध्याय मदद कर सकता है। जानो, पूरी शक्ति और लगन से जानो। गलती होने की संभावना निरंतर कम होती जाएगी। संसार तक जानोगे तो वैज्ञानिक हो जाओगे और ज्ञाता को भी जानोगे तो परमात्मा के पथ पर होगे। अतः स्वाध्याय से हानि कहीं नहीं है। वह निःश्रेयस मार्ग है—

सज्झायएगन्तनिसेवणा य।
सुत्तत्थसंचिन्तणाया धिई य।। उत्त. 32/इ.

स्वाध्याय का एक सूत्र यह भी है कि जीवन में कहीं आवरण को मत पकड़ो। अच्छा-बुरा जो भी किया है, उसका लेखा-जोखा दिन में एक बार अवश्य करो। इससे बहुत कुछ मैल छन जाएगा और यदि कहीं सद्ग्रंथों का अध्ययन तथा सत्संग करने की आदत डाल ली तो जीवन से बनावटीपन स्वतः ही समाप्त होने लगेगा। स्वाध्याय की यही निष्पत्ति है कि अपने जीवन को खुली किताब के समान रखो। उस हवादार और रोशनदानयुक्त मकान की तरह, जिसमें प्रकाश आ सके और धूल के कण बाहर जा सकें। स्वाध्याय यही सिखाता है।

अपने द्वारा किया गया अध्ययन स्वाध्याय कहा जाता है। इसमें किसी गुरु की अपेक्षा आवश्यक नहीं। इस बात का गहरा अर्थ है। जब गुरु की अपेक्षा नहीं हो तो स्वाध्याय में पुस्तक भी अनिवार्य नहीं है। वह एक साधन मात्र हो सकती है—तथ्य तक पहुंचने का, किंतु जानना 'स्व' को होगा। इसका अर्थ हुआ कि 'स्व' कहीं से भी, कुछ भी जान सकता है। शायद इसीलिए भारतीय साहित्य में देशाटन को भी ज्ञानवृद्धि का एक उत्तम उपाय माना है। वहां भी स्वाध्याय हो सकता है। हमारे देश में तीर्थवंदना इसी स्वाध्याय के हेतु प्रचलित हुई थी। पर्वतों पर, एकांत स्थानों पर तीर्थों का

होना अकारण नहीं है। वहां जाकर व्यक्ति संसार की विचित्रता और आत्मा की विशेषता के संबंध में गहराई से सोच सकता है।

स्वाध्याय का केवल धार्मिक और व्यक्तिगत महत्त्व ही नहीं है। समाज के अन्य क्षेत्रों में भी वह शोधन प्रारंभ करता है। यदि स्वाध्याय के मूलमंत्र सापेक्ष चिंतन को पकड़ा जाए तो आज के दुराग्रहों, मत-मतांतरों को लेकर जो झगड़े हैं—वे शांत होंगे। आज जो संचय की प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों के हितों को छीनता है, वह 'स्व' के स्वरूप के संबंध में अज्ञान ही है। वह शरीर को ही सब कुछ मानता है। अतः उसकी सुविधा के साधन एकत्र करता है। स्वाध्याय से जब उसे ज्ञात होगा कि शरीर और आत्मा में भेद है। एक अपना है, एक पराया, तो वह स्वतः पराए शरीर के लिए चिंता करना छोड़ देगा। समाज की बुराइयां इससे दूर होंगी। अतः स्वाध्याय व्यक्ति को सामाजिक और सुयोग्य नागरिक भी बनाता है। वर्तमान संदर्भों में स्वाध्याय अपनी अर्थवत्ता पूर्ववत् ही बनाए हुए है, जरूरत उसके सही स्वरूप को उद्घाटित कर अपनाने की है। ❖

अमरत्व की खोज

ये गीत कितने मनोरम हैं, मां! जी चाहता है इन्हें ही सुनता रहूं। मां! ये आज क्यों गाए जा रहे हैं?

पुत्र! ये गीत बड़े ही लुभावने हैं और आज अपने पड़ोसी के घर पुत्र का जन्म हुआ है, इसलिए गाए जा रहे हैं।

मैं जन्मा तब भी ये गाए गए होंगे?

पुत्र! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। तुम्हारे वैभव के सामने पड़ोसी का वैभव नगण्य है। उन मंगल गीतों के स्वर आज भी कानों में थिरक रहे हैं, जो तुम्हारी जन्म-वेला में कुल-वधुओं ने गाए थे।

कठिनाई से दो घंटे बीते होंगे। थावच्चा-पुत्र विषादभरा मन लिए मां के पास आया। मां! मन को बहुत दुखाने वाले हैं ये गीत। मन करुणा से भर गया है, रुलाई-सी आ रही है। ये क्यों गाए जा रहे हैं, मां!

बेटा! इस नश्वर संसार की लीला ही ऐसी है। पड़ोसी के घर जो पुत्र जन्मा, वह चल बसा। इसलिए यह आक्रंद हो रहा है। ये गीत नहीं हैं, पुत्र!

मां! जो आता है वह इस प्रकार उठ जाता है?

हां, वत्स! यह निश्चित है, जो जन्म लेता है, वह मरता है।

तो मैं भी मरूंगा?

वत्स! यह विश्व का नियम है। इसमें कौन अपवाद हो सकता है?

मां! मरना न पड़े, इसका कोई उपाय है?

है।

तो कौन जानता है?

भगवान अरिष्टनेमि जानते हैं।

थावच्चा-पुत्र अमरत्व की खोज में चल पड़ा। अरिष्टनेमि की शरण पा वह कृतार्थ हो गया।

—मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)

रात का समय था, सेठ नरोत्तमदास मोटर से उतर कर मकान के अंदर गए। उनकी स्त्री ने उनकी ओर देखा, तो आनंद से झूमने लगी—सेठ साहब भी खद्दर के कपड़े पहने हुए थे। उसने सेठ साहब को विलायत के बने हुए बढ़िया और बहुमूल्य कपड़े पहने देखा था। वे उनके शरीर पर सजते थे। परंतु आज खद्दर के कपड़ों में वे मनुष्य नहीं, देवता मालूम होते थे। उन कपड़ों में ओछापन था, इनमें भोलापन। उनमें दिखाव था, इनमें सचाई। उनमें भड़क थी, इनमें सादगी। उनमें और इनमें जमीन-आसमान का अंतर था। ●

कहानी

◆ सुदर्शन

हार-जीत

यह उन दिनों की बात है, जब भारत पर अंग्रेजों का शासन था और भारतीय देशभक्त विलायती कपड़े का बायकाट कर रहे थे।

कलकत्ते के सेठ नरोत्तमदास बड़े प्रसिद्ध व्यापारी थे। उन्हें लाखों की आमदनी थी। वैसे तो उन्होंने कई कामों में अपना रुपया लगा रखा था, परंतु उनका अधिकतर काम कपड़े का था। दूसरे-तीसरे महीने दो-तीन लाख का आर्डर विलायत जाता रहता था। उनकी दूकान पर सौ-दो सौ रुपये का कपड़ा नहीं बिकता था। वे इसे अपना अपमान समझते थे। उनके सौदे हजारों से कम नहीं होते थे। उनकी गिनती कलकत्ते के प्रतिष्ठित पुरुषों में थी। बच्चे-बूढ़े सब उनके नाम को जानते थे। और इतना ही नहीं, गवर्नमेंट के अफसरों तक उनकी पहुंच थी। हर अवसर पर बीस-तीस हजार रुपया चंदा दे देते थे।

जब देश में स्वदेशी की लहर उठी, तो सेठ साहब भी चौकन्ने हुए। जगह-जगह जलसे हो रहे थे, दो-तीन व्यापारियों ने जोश में आकर प्रण भी कर लिया, कि हम भविष्य में विलायती कपड़ा नहीं मंगाएंगे। परंतु सेठ साहब पर इस आंदोलन का जरा भी प्रभाव न पड़ा, जिस प्रकार तेल के घड़े पर जल नहीं ठहरता। जब कोई उनसे कहता—'सेठ साहब! आप कब तक इस कीच में फंसे रहेंगे?' तो वे हंसकर उत्तर देते—'इस कीच से मेरी तो लाश ही निकलेगी, मैं जीते जी तो इसे न छोड़ूंगा।' इसके बाद भोला-सा मुंह बनाकर कहते—'देखिए साहब! यह गुल-गपाड़ा केवल चार दिन का है। थोड़े दिन और ठहर जाइए! फिर वही विलायती माल और वही यह लोग। क्या आप समझते हैं, कि विलायती कपड़े की मार्केट बंद हो जाएगी! कुछ ही दिनों में देख लेना, लोग इस खादी से तंग आ जाएंगे। जोश में आया हुआ मनुष्य कुछ समझ नहीं सकता, वर्ना क्या आप खयाल भी कर सकते हैं कि यदि भारतवर्ष से अंग्रेज चले जाएं, तो यहां मार-काट आरंभ न हो जाए। हमारे कई पड़ोसी देश इन्हीं से डरते हैं। नहीं तो हमें चार दिन में खा जाएं।

●

परंतु सेठ साहब का पुत्र लखमीचन्द इस आंदोलन का तन-मन से पक्षपाती था। प्रायः जोश से कहा करता—विलायती कपड़े ने ही हमारे देश को पराधीन बना रखा है। जब तक स्वदेशी का आंदोलन पूर्ण रूप से सफल नहीं होता, तब तक हमारी गुलामी का भी पूर्ण रूप से नाश नहीं होगा। जब वह विलायत के बहुत बढ़िया कपड़े पहना करता था, उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई बैरिस्टर है, परंतु अब उसकी अवस्था में आकाश-पाताल का अंतर था। अब तो विलायती कपड़े देखकर ही उसकी आंखों में लहू उतर आता था।

एक दिन वह बाजार से खद्दर के कपड़े खरीद लाया और अपने विलायती कपड़ों के भरे हुए तीन संदूकों में आग लगा दी।

सायंकाल सेठ साहब ने यह सुना, तो क्रोध से लाल-पीले हो गए और स्त्री के पास जाकर बोले—'यह तुम्हारा लाल क्या कर रहा है? सुना है, आज उसने अपने सब कपड़े जला डाले हैं!'

सेठानी ने धीरे-से उत्तर दिया—'मैं भी उस समय वहां खड़ी यह देख रही थी।'

'तो तुमने उसे रोका नहीं?'

'मैं रोक कर क्या करती? वह कोई बुरा काम थोड़े ही कर रहा था।'

'तो तू भी उसके साथ है?'

'और क्या? मैं तो उससे भी आगे हूं।'

'बड़ा शुभ काम है? तब तो तुम समझती होगी कि आज तुमने तीर्थ-यात्रा कर ली?'

सेठानी का चेहरा तमतमा उठा। वह तमककर बोली—'तीर्थयात्रा से भी बढ़कर।'

सेठ साहब ने बैठकर कहा—'मेरे घर में यह बेहूदगियां न चलेंगी।'

'देखो! लड़के को कुछ कह न बैठना। उसका दिल छोटा हो जाएगा और यह काम वैसे भी भला ही है। कोई सारा देश पागल तो नहीं हो गया।'

'पागल ही हो गया है।'

'महात्मा गांधी भी?'

'यह मैं नहीं कह सकता, परंतु इतना अवश्य कहूंगा कि यह जोश चार दिन का है। इसके बाद फिर लोग वही विलायती कपड़ा पहनने लगेंगे।'

सेठानी ने कहा—'अच्छा! अब लड़के को कुछ कह न बैठना।'

सेठ साहब तिलमिला उठे, जैसे बच्चे के मुंह में मिर्च आ जाए। उन्होंने सेठानी को घूरकर देखा और बोले—'तुम उसकी बार-बार सिफारिश क्यों कर रही हो? उसने जो नुकसान कर दिया है, उसके विषय में दो बातें करना भी अब पाप हो गया?'

इतने में लखमीचन्द बाहर से आया। वह खादी के कपड़े पहने हुए था। पांव में चप्पल था। इस समय वह संतोष की मूर्ति दिखाई देता था, परंतु सेठ साहब के सिर से पांव तक आग लग गई। बिफरे हुए शेर की तरह बोले—'यह क्या रंग बनाया है तूने?'

लखमीचन्द ने सिर झुकाकर बड़ी शांति से उत्तर दिया—'कुछ नहीं, खादी है।'

'तू भी पागल हो गया क्या?'

'देश के साथ रहना ही उचित है। मैं तो आपसे भी प्रार्थना करूंगा कि विलायती कपड़े का व्यापार बंद कर दें।'

'और खाएं कहां से?'

'भगवान एक दरवाजा बंद करेगा, सौ दरवाजे और खोल देगा। और हमें तो चिंता ही काहे की है?'

सेठ साहब ने गरजकर कहा—'तू बकता क्या है? मेरे घर में यह पागलपन नहीं चलेगा।'

लखमीचन्द सीधे स्वभाव का आदमी था। वह पिता के सामने सिर उठाना अनुचित समझता था, परंतु वह अनुचित दबाव सहन न कर सका। सिर उठाकर बोला—'मेरा यह पागलपन अब दूर नहीं होगा। बढ़ेगा और मुझे इससे खुशी होगी।'

'अच्छा! इतनी हिम्मत है तुम्हारी?'

'मैंने कोई अनुचित बात तो नहीं कही।'

'मैं तुझे घर से निकाल दूं, तो एक दिन में होश आ जाए।'

पिता यहां तक पहुंच जाएगा, लखमीचन्द को यह आशा न थी। वह क्रोध से बोला—'तो इससे मैं भी मर न जाऊंगा। लीजिए, मैं यह चला।'

सेठानी के दिल में तीर-सा चुभ गया। वह रोती हुई बोली—'बेटा! तू यह क्या पागलपन करता है? तूने तो कभी इतना क्रोध नहीं किया था आज तक।'

लखमीचन्द ने मुंह मोड़कर कहा—'आपने देखा! पिताजी ने क्या कहा है मुझे?'

सेठ साहब बोले—'हां! ठीक कहा है। जाओ। देखता हूं, कौन मां तुम्हारे लिए परांठे लेकर बैठी है। और कौन बाप तुम्हारे लिए रुपए की थैलियां खोले राह देख रहा है?'

लखमीचन्द ने जवाब न दिया और चुपचाप बाहर निकल गया।

उसकी मां कुछ क्षण तक चुपचाप बैठी रही। अब सेठ साहब मन ही मन लज्जित हो रहे थे कि क्यों क्रोध किया? बात को इतना बढ़ाना उचित न था। मगर अब अपना दोष मानते हुए लज्जा आती थी। यह लज्जा कभी-कभी हमें बहुत खराब करती है और हमारी खुशियों के कई दरवाजे हम पर बंद कर देती है।

थोड़ी देर बाद सेठानी ने नागिन के समान गरदन ऊंची करके कहा—'अगर मेरे लड़के को कोई तकलीफ हुई तो आप जानेंगे।'

●

दूसरे दिन सेठ साहब की स्त्री ने भी खद्दर के कपड़े पहन लिए। सेठ साहब ने यह देखा, तो दिल में पानी-पानी हो

गए। वह मानते नहीं थे, परंतु उनका मन उनसे साफ कहता था कि दोष उन्हीं का है। इस दोष को स्वीकार करते हुए उनका मुंह कोई बंद कर देता था। उन्होंने स्त्री को इस वेश में देखा और चुपचाप दृष्टि नीची करके रह गए। कोई बात करने का साहस न हुआ। चुपचाप दूकान को चले गए।

सायंकाल को मालूम हुआ कि स्त्री भी घर से बेटे के पास चली गई है। लखमीचन्द ने बाजार में एक बैठक किराए पर ले ली थी। उसकी मां भी वहीं जा पहुंची। लखमीचन्द ने उसे खद्दर के वेश में देखा, तो उसके हर्ष की सीमा न रही। वह खुशी से उसके पांव से लिपट गया। मां ने कहा—'लखमी! उठ, घर चल।'

लखमीचन्द ने उठकर उत्तर दिया—'आपने देखा, पिताजी ने कैसी धमकी दी थी?'

माता—'पिता पुत्र को धमकाया ही करते हैं और पुत्र धमकियां खाया ही करते हैं।'

'परंतु यह धमकी बिल्कुल नामुनासिब थी।'

'नामुनासिब थी, तो भी मामूली बात है।'

मां ने पुत्र को बहुत समझाया, परंतु उसने एक 'न' अक्षर ऐसा पकड़ा कि सैकड़ों यत्न करने पर भी न छोड़ा। हारकर वह भी वहीं रहने लगी। पुत्र-प्रेम ने पति-प्रेम को दबा दिया। सेठ साहब झुंझलाकर रह गए। परंतु अपने हठ पर वह भी अड़े रहे। मूंछों पर ताव देकर बोले—'देखता हूं, यह अकड़ कितने दिन चलती है?'

दूसरे दिन शहर में नया खेल आरंभ हुआ। कांग्रेस के आदमियों ने विलायती कपड़े की दूकानों पर पहरा लगा दिया। स्वयंसेवकों की सरगरमी देखने के योग्य थी। उनका जोश देखकर मन का कमल खिल उठता था। लखमीचन्द भी एक बजाज की दूकान पर जाकर बोला—'सेठ साहब! मेरी एक प्रार्थना है आपसे।'

सेठ साहब ने खद्दर का वेश, अमीरों का-सा रूप-रंग और देवताओं का-सा तेज-प्रताप देखा, तो उनका हृदय श्रद्धा से भर गया। आदर से बोले—'कहिए, क्या आज्ञा है?'

'यह काम बड़ा नीच है। इसे छोड़ दीजिए।'

'कौन-सा काम नीच है?'

'यही विलायती कपड़े का काम! सारा देश इसके विरुद्ध खड़ा हो गया है।'

दूकानदार ने हाथ जोड़कर पूछा—'तो महाराज! खाएंगे कहां से? और खाएंगे क्या?'

'आपको भगवान ने बहुत-कुछ दे रखा है। आप सौ काम कर सकेंगे।'

इतने में एक दूसरा दूकानदार आ गया। उसने आते ही लखमीचन्द की ओर आगभरी आंखों से देखा और बोला—'क्या बात है? क्या कहते हैं यह?'

पहले दूकानदार को सहारा मिल गया, जरा तेज होकर बोला—'कहते हैं, विलायती कपड़ा बेचना बंद कर दो।'

दूसरे दूकानदार ने कहा—'हम यह नहीं कर सकते। हम कपड़ा बराबर बेचेंगे।'

'तो आपकी दूकानों पर पहरा लगाना पड़ेगा।'

पहला दूकानदार घबरा गया। उसने सुना था कि स्वयंसेवकों का पहरा कितना सख्त होता है और उसका परिणाम कैसा भयानक होता है? उसके चेहरे का रंग उड़ गया। मगर दूसरे दूकानदार पर इसका कुछ असर न हुआ। उसने हंसी उड़ाते हुए कहा—'तू लखमीचन्द है क्या?'

लखमीचन्द का कलेजा धड़कने लगा। उसने उत्तर दिया—'जी हां।'

'सेठ नरोत्तमदास का बेटा?'

'जी हां!'

'तो भाई मेरे! पहले बाप का काम तो छुड़वा लो, फिर हमारी दूकानों पर भी चले आना।'

पहले दूकानदार के शरीर में जान आ गई। उसने कहा—'अच्छा! यह उनका बेटा है। राम-राम! तो बेटा! पहले बाप की दूकान पर पहरा क्यों नहीं लगाते? हमारी तो बाद में बारी आनी चाहिए। कल्याण का काम पहले घर से शुरू करो ना। घर में दिया जलाकर मंदिर में तुम जलाना।'

लखमीचन्द के कलेजे में तीर-सा लगा। उसने सोचा—सचमुच यह मेरी ढिठाई है, जो पहरे के लिए खड़ा हो गया। मुझे पिता की परिस्थिति देखनी चाहिए थी। इस तरह तो हमारे आंदोलन की हंसाई हो सकती है।

उसका जोश सोडे के उबाल की तरह बैठ गया। वह लज्जित होकर अपने कप्तान के पास गया और बोला—'मेरा पहरा पिताजी की दूकान पर लगा दें, तो बड़ी कृपा हो।'

कप्तान ने सारी बात सुनी तो हैरान रह गया—'यह बड़ी कठिन-सी बात है।'

'मगर मैं आसान कर दूंगा।'

'आज की खबरें तुमने सुनीं?'

'जी नहीं।'

'तुम्हारे पिताजी ने हमारे पंद्रह स्वयंसेवक गिरफ्तार करा दिए हैं।'

लखमीचन्द ने लज्जित होकर और सिर झुकाकर उत्तर दिया—'तो मैं इसका प्रायश्चित करना चाहता हूं।'

इस समय उसके मुंह पर ऐसी लज्जा बरस रही थी, मानो स्वयं उसने कोई अपराध किया हो। पिता के दोष पर पुत्र लज्जित हुआ।

कप्तान ने कहा—'तो अच्छा! कल से तुम्हारा पहरा तुम्हारे पिता की दूकान पर है।'

●

प्रातःकाल हो चुका था। सेठ नरोत्तमदास की दूकान पर स्वयंसेवकों की भीड़ थी। वह व्यापारियों की मिन्नतें करते थे, उनको समझाते थे, उनके पांव पकड़ लेते थे। व्यापारियों के हृदय पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। सब दूकानें बंद करके वापस चले गए।

सेठ साहब ने दूकान से बाहर निकलकर कहा—'मैं फोन कर पुलिस को खबर देने जाता हूं। आप लोग यदि हट जाएं, तो अच्छा है। नहीं तो जो होगा, देखा जाएगा।'

एकाएक उनकी दृष्टि लखमीचन्द पर पड़ी। उनके हौसले टूट गए। जिस तरह उड़ता हुआ कबूतर बाज को देखकर सहम जाता है, उसी तरह पुत्र को स्वयंसेवकों में देखकर पिता का जोश बैठ गया। मन में सोचा, यही लड़का है, जो कभी मोटर के बिना दो पग भी नहीं चलता था। आज इसके पांव में साधारण-सा चप्पल है। सिर के बाल खुश्क हो गए हैं, कपड़े खद्दर के, परंतु चेहरा उसी तरह चमक रहा है। घर से बेघर होकर भिखारियों की तरह काम कर रहा है, परंतु अपना कोई स्वार्थ नहीं। जो कुछ करता है, देश और जाति के हित के लिए करता है और इस समय कैद होने को भी तैयार है। राजकुमारों की तरह पला है, परंतु अपराधियों की तरह दंड भुगतने को उतारू है। एक मैं हूं, जो धन के लोभ में देश और जाति दोनों की परवा नहीं करता। कहने को कोई न कहे, मगर यह बात तो सच्ची है कि अपने लाभ के लिए भारत को लुटा रहे हैं। अगर यहां का रुपया यहीं रहे, तो कितने घरों का रोना बंद हो जाए और कितने गरीबों की कंगाली दूर हो जाए! हमने मलमल की बारीकी और मखमल की नर्मी को देख लिया है। यह विचार नहीं किया कि अपने कपड़े का चलन हो तो कितनी विधवाओं के लिए आजीविका बन सकती है।

सेठ का हृदय भर आया। उन्होंने लखमीचन्द को घर से निकाल दिया था, परंतु उसके प्यार को दिल से न निकाल सके। चुपचाप दूकान के अंदर चले गए। लखमीचन्द ने यह देखा, तो सब कुछ समझ गया।

थोड़ी देर बाद दूकान के एक नौकर ने आकर लखमीचन्द से कहा—'आपको सेठ साहब बुला रहे हैं।'

लखमीचन्द दूकान में गया और बाप के सामने चुपचाप खड़ा हो गया। सेठ साहब ने उठकर उसे गले से लगा लिया और कहा—'लखमी! तुमने मुझे शिक्षा दे दी है। मैं यह काम छोड़ रहा हूं।'

लखमीचन्द पर जादू-सा हो गया। उसने रुक-रुककर पूछा—'तो आप यह काम छोड़ रहे हैं?'

'हां! छोड़ रहा हूं।'

'कब?'

'अभी—इसी समय।'

लखमीचन्द ने पिता की ओर देखकर कहा—'मैंने आपके सामने गुस्ताखी की थी, मुझे क्षमा कर दीजिए।'

नरोत्तमदास ने पुत्र को दूसरी बार फिर गले से लगाया और प्यार से उसका माथा चूम लिया।

इतने में मुंशी ने एक कागज हस्ताक्षर कराने के लिए सामने रख दिया। इसमें एक अंग्रेजी फर्म के नाम तीन लाख रुपये की धोतियों का आर्डर था। सेठजी ने उसे फाड़कर फेंक दिया और मैनेजर से कहा—'दूकान बंद कर दो।' फिर लखमीचन्द से बोले—'तुम मोटर लेकर घर चलो और अपनी मां को भी लेते चलो। मैं भी जरा ठहर कर आता हूं।'

लखमीचन्द गद्‌गद हो रहा था। हंसता हुआ वालंटियरों के पास गया और बोला—'पहरा हटा दो, दूकान बंद कर दी गई है।'

एक स्वयंसेवक ने पूछा—'और यह माल?'

'किसी दूसरे देश में थोड़े मूल्य पर बेच दिया जाएगा।'

स्वयंसेवकों ने चिल्लाकर कहा—'बोलो भारत-माता की जय!'

'सेठ नरोत्तमदास की जय!'

'भाई लखमीचन्द की जय!'

●

रात का समय था, सेठ नरोत्तमदास मोटर से उतर कर मकान के अंदर गए। उनकी स्त्री ने उनकी ओर देखा, तो आनंद से झूमने लगी—सेठ साहब भी खद्दर के कपड़े पहने हुए थे। उसने सेठ साहब को विलायत के बने हुए बढ़िया और

बहुमूल्य कपड़े पहने देखा था। वे उनके शरीर पर सजते थे। परंतु आज खद्दर के कपड़ों में वे मनुष्य नहीं, देवता मालूम होते थे। उन कपड़ों में ओछापन था, इनमें भोलापन। उनमें दिखाव था, इनमें सचाई। उनमें भड़क थी, इनमें सादगी। उनमें और इनमें जमीन-आसमान का अंतर था।

सेठानी का हृदय आनंद में मस्त हो उठा। वह खुशी से उठकर पति के पैरों पर गिर पड़ी। सेठ साहब ने कहा—'तुम्हारे लिए एक चीज लाया हूं।'

सेठानी ने कुछ उदिग्न-सी होकर पूछा—'वह क्या?'

'लखमी कहां है?'

'अपने कमरे में।'

'जरा बुलाओ तो।'

लखमीचन्द आ गया। पिता को खद्दर के वेश में देखकर उसका हृदय भी गद्‌गद हो गया। सेठ साहब ने कहा—'बेटा! बाहर मोटर में तुम्हारी मां के लिए एक तोहफा रखा है। जाओ, उठा लाओ।'

थोड़ी देर बाद लखमीचन्द एक सुंदर चर्खा और रुई उठाए हुए अंदर आया। सेठानी ने हंसकर कहा—'मेरे विचार में यह चार दिन का खेल है। फिर वही लोग होंगे और फिर वही विलायती माल।'

सेठ साहब का मुंह लाल हो गया। कुछ दिन पहले यही शब्द उन्होंने आप कहे थे। उस समय उनका विचार था कि यह आंदोलन शीघ्र ही मर जाएगा, परंतु अब अवस्था बदल गई थी। अब उनको पूर्ण विश्वास हो गया था कि इस आंदोलन को ब्रह्मा भी नहीं मार सकता। अब वह स्वयं स्वदेशी वस्त्र पहन चुके थे। लज्जित-से होकर बोले—'लज्जित क्यों करती हो? मैं अपनी हार आप स्वीकार करता हूं।'

'परंतु आपने हारकर ही बाजी जीत ली है।'

सेठ साहब समझ न सके कि इसका अर्थ क्या है। हैरान होकर बोले—'इससे तुम्हारा क्या मतलब है?'

लखमीचन्द ने दैनिक पत्र 'आंदोलन' का आज का अंक उनके हाथ में देकर कहा—'देखिए।'

सेठ साहब ने पर्चा लेकर देखा। पहला ही लेख उनकी प्रशंसा में था। पढ़कर बोले—'क्या वाहियात है! मैं इस प्रशंसा के योग्य नहीं।'

सेठानी चर्खा कातने लगी थी। उसकी घूं-घूं की सुमधुर आवाज में ये शब्द डूब गए।

लखमीचन्द खड़ा मुस्करा रहा था। कमरा मुस्करा रहा था। कमरे की दीवारें मुस्करा रही थीं। ❖

मेरे साथी शिक्षकों का मुझमें जरा भी विश्वास नहीं। वे तो मुझे निरा मूर्ख समझते हैं। और हां, शायद मैं मूर्ख हूं भी। वैसे तो अनुभवहीन ठहरा, लेकिन उनकी इन मान्यताओं को और सिखाने की इन रीतियों को, भई मैं तो हाथ जोड़ता हूं। इन्हें देखकर मुझे तो बस कंपकंपी ही छूटती है। इससे तो मैं जो करता हूं, वही लाख दरजे ठीक है। मेरे विद्यार्थी मुझे देखकर भाग तो नहीं जाते। वे मुझसे पर्याप्त प्रेम करते हैं। वे मेरा आदर भी करते हैं। आज्ञा भी मानते हैं। इन शिक्षकों को देखकर तो इनके छात्र भाग खड़े होते हैं और पीठ पीछे इनकी नकल करते हुए मैंने उन्हें अपनी आंखों से देखा है! एक भी लड़का ऐसा नहीं जो शिक्षक के पास जाकर प्रेम से खड़ा हो सके और प्रेम से बातचीत कर सके। वे कक्षा में तो चुपचाप बिना हिले-डुले बैठते हैं, पर जब बाहर निकलते हैं तो इतना ऊधम मचाते हैं कि पूछो न! अपने विद्यार्थियों को मैंने उचित स्वतंत्रता दी है। वे कक्षा में जो थोड़ी गड़बड़ कर लेते हैं, उससे अधिक गड़बड़ बाहर कभी नहीं करते। लेकिन मेरे साथी तो मुझ पर यह आरोप लगाते हैं कि मैं लड़कों को बिगाड़ रहा हूं, उनको उद्दंड बना रहा हूं—केवल कहानियां सुनाता रहता हूं और पढ़ाता बिल्कुल नहीं। खेल-खेल में उलटे उनको आवारा बना रहा हूं। अच्छा, देखा जाएगा। मेरे विचार में तो ये खेल और ये कहानियां ही आधो-आध शिक्षा हैं!

—गिजुभाई बधेका

रमेशचंद्र शाह की कविताएं

पहाड़ी झील

तुम्हारी गहराई
एक तुम्हें छोड़
और सबके लिए
रहस्य है।

तट पर खड़ा मैं तुम्हें
निहार भर सकता हूं।
अधिक से अधिक
तुम्हारी
परिक्रमा कर सकता हूं।

बिन डूबे तुममें
प्रतिबिंबित हैं
ये उजले शिखर
और
अंतरिक्ष...

तुम्हारा काम केवल
यहां बैठे-बैठे
ऊंचाइयों को
गलाना है।

•

कहो

हवा से कहो
तुम्हारा खालीपन भरे
अंधेरे से कहो
तुम्हें नदी पार कराए

आसमान से कहो
तुम्हें मकान ढूंढ़ दे।
सड़कों से कहो
तुम्हें काम पर लगा दे।

शब्दों से कहो
...
नहीं!
शब्दों से
कुछ मत कहो।

•

लय

गाढ़ी होती सांझ
गढ़े के जल में।

घर जाने को खड़ी
इकट्ठी
गायें।

अलग-थलग भी एक साथ
पूंछों का
उठना-गिरना

संवलाते आकाश-फलक पर।

खड़ी देखती चकित हवा भी
एक अनोखी लय में अंकित
अपनी
आतुरताएं।

•

स्मरण

नींद की नदी में उगा
कलरव करता झरना एक
धंसता अपने भीतर
अपने भीतर
जहां
खिड़की पर
पहली-पहली बर्फ से
घिरा बच्चा
और
उससे भी ज्यादा
अवाक्
एक
पहाड़!

•

नीले आसमान से

नीले आसमान से
उतरी
हरी
सीढ़ियां
घाटी में
जा पसरीं।

पूछो
तनिक वहां जा उनसे
कब से यहां
पहाड़
पालथी मारे
पड़े हुए हैं?

•

खोल दिए पट

खोल दिए पट अंतरिक्ष ने
हंसते हैं देवता सामने।
पीछे
शहर
खिलौने-सा
चमचमा रहा है।
बूढ़े के बचपन-सा
हौले-हौले
जाग रहा है
वाद्य-वृंद
जंगल का।

❖❖

शीलन

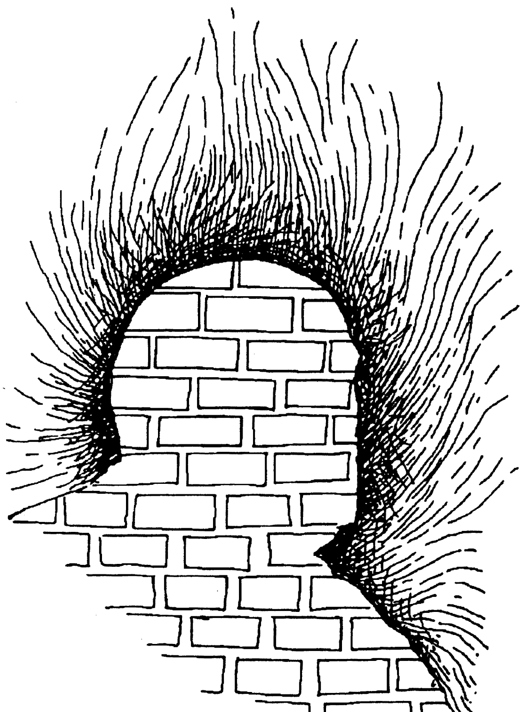

एक बार बुद्ध के शिष्य मोग्गल्लान ने उनसे पूछा : 'क्या बुद्ध के सभी अनुयायी संसार के दुखों से निश्चित रूप से मुक्त हो जाएंगे?' बुद्ध ने पुरोहित जाति के मोग्गल्लान को जवाब दिया : 'क्या तुम राजगृह (राजगह) का रास्ता जानते हो?' मोग्गल्लान का उत्तर हां में था। बुद्ध ने अगला सवाल पूछा कि क्या तुम किसी को वह रास्ता बता सकते हो? मोग्गल्लान ने कहा कि बिल्कुल, यह राजगृह की सड़क है। इस पर चलेंगे तो कुछ दूर चलकर अमुक गांव आएगा और आगे चलकर एक उपवन मिलेगा जिसका प्राकृतिक दृश्य फलां तरह का होगा...आदि...आदि। बुद्ध ने कहा : 'तुम्हारे बताए रास्ते पर चलकर संभव है कि एक राही राजगृह पहुंच जाए, लेकिन हो सकता है कि कोई दूसरा रास्ता भटक जाए और वहां न पहुंच सके।' मोग्गल्लान ने कहा : 'क्या यह भी मेरा काम है, गुरुदेव? मैंने तो बस रास्ता दिखाया।' बुद्ध : 'मैं भी केवल रास्ता दिखाता हूं। मेरे कुछ अनुयायी पहुंच जाते हैं और कुछ नहीं पहुंचते। गुरु का काम सिर्फ रास्ता दिखाना है।'

—**एस. भट्टाचार्य**

'युवाओं के लिए बुद्ध' पुस्तक से

आज हम अत्यंत धर्महीन हो गए हैं और जो भी उपाय-योजना करनी हो, बहुत सोच-समझकर, दूरदृष्टि से करनी चाहिए। केवल आतंक उत्पन्न करने वाले तात्कालिक उपाय से काम नहीं चलेगा। सारी समाज-रचना को बदलकर साम्य पर अधिष्ठित नई अर्थव्यवस्था करनी होगी। इतने से भी काम नहीं चलेगा। अपनी धार्मिक कल्पनाओं का भी हमें संशोधन करना होगा। केवल भूतदया न रखकर व्यवहार में हमें सत्य को स्थापित करना चाहिए।

◆ **विनोबा**

हमारी धर्म-हीनता

हम कहते हैं कि भारत धर्म-प्रधान देश है। यह हमारी पुण्य-भूमि है। ऐसा समय-असमय हम अभिमान प्रकट करते रहते हैं। बाहर के लोग भी हमारे बारे में यही कहते हैं। उनके प्रमाण-पत्र से हम और भी फूल जाते हैं। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युटांग ने लिखा है, 'भारत धर्म-भावना से अभिमंत्रित तथा ईश्वरी मद्य से मतवाला (गॉड-इंटॉक्सिकेटेड) देश है।' इस विषय में चीन और भारत में कितना अंतर है, यह बताते हुए वह कहता है, 'चीन भारत के दूसरे सिरे पर है। चीन अति व्यावहारिक है। भारत अति धार्मिक है। दोनों राष्ट्रों को अपना-अपना यह अतिरेक कम करना चाहिए।'

परंतु आज हमारे देश की हालत क्या है? हममें आज अति धार्मिकता दिखती है, वह आवश्यकतानुरूप है या धर्म-हीनता है? लाखों लोग भूखे मर गए, फिर भी कालाबाजार जारी ही रहा। आज हमारी सरकारें आ गईं। फिर भी कोई खास फर्क नहीं दिखाई देता। एक मजदूर कह रहा था, 'कंट्रोल का भाव है रुपये की पांच सेर ज्वार। बाहर के व्यापारी आते हैं और चार सेर के थोक भाव में चुपचाप माल ले जाते हैं और हम मजदूरों को फुटकर खरीदनी पड़ती है, इसलिए तीन सेर की मिलती है। आज कहते हैं, हमारा स्वराज है। यह कैसा स्वराज? जहां कालाबाजार चलता है, वहां स्वराज कैसे हो सकता है?' यह है उस अनपढ़ ग्रामीण की कल्पना। हम 'पढ़े-लिखे' इसका क्या जवाब देंगे?

एक बार एक खुदरा व्यापारी से बातचीत करने का प्रसंग आया। वह कहने लगा, 'आप कालाबाजार-कालाबाजार' कहते हैं, परंतु हमारा तो यह सदा का धंधा है। कमाई के अवसर को खोने वाला व्यापारी व्यापारी ही नहीं है। चीजें सस्ते-से-सस्ते भाव में खरीदी जाएं और भाव ऊंचे-से-ऊंचा पहुंच जाए, तब तक रखकर प्रत्यक्ष बेचते समय जिस भाव में बेचते बने, उस भाव में बेचना, यह हमारा हमेशा का नियम है। आज की हालत में यह लोगों को अखरता अधिक है, केवल इतनी-सी बात है और इसके लिए कोई इक्का-दुक्का व्यापारी जिम्मेदार है, सो बात नहीं। कुल मिलाकर आज की व्यवस्था ही इसके लिए जिम्मेदार है। इसे बदलने का काम सरकार का है। सरकार इसे ठीक नहीं कर पा रही। ऐसी हालत में आपके कहने के अनुसार कोई अकेला व्यापारी सरलता बरते तो वह हमारे धंधे की भाषा में 'प्रामाणिकता' नहीं 'मूर्खता' होगी।'

यह है उस व्यापारी की बात। अपनी दृष्टि से उसने अपनी बात बिल्कुल शुद्ध बुद्धि से कही थी, किंतु उसकी बात सुनकर मैं विचार में पड़ गया। आज के कालेबाजार को छोड़कर मैं हमेशा के सफेद बाजार पर विचार करने लगा। भारत के किसी भी शहर या गांव के बाजार में प्रतिदिन क्या होता रहता है? दूकानदार और ग्राहक एक-दूसरे की ओर किस दृष्टि से देखते हैं? दूकानदार अपनी चीज की उचित से अधिक कीमत बढ़ाकर बताता है, ग्राहक उसे उचित से कम मूल्य में मांगता है। कुछ देर चतुराई की पैंतरेबाजी चलती है और अंत में कुछ भाव तय होता है। यही है न भारत के बाजारों की स्थिति? दूसरों की बात छोड़िए, परंतु क्या दूकानदारों को कभी यह भी खयाल होता है कि बाजार में यदि एक बच्चा आ जाए तो उसे धोखा न दें? इसके विपरीत हमारे दूकानदार यही न समझते हैं कि कमाने का मौका यही है?

और यह वृत्ति सब्जी बेचने वाली ग्रामीण मालिन से लेकर व्यवसाय-विशारद व्यापारी तक में है। ग्रामीण उसमें इतना कुशल नहीं होता, शहरी कुशल हो जाता है। परंतु प्रयत्न तो दोनों का यही होता है।

नागपुर में एक बार हम बुनकरों के करघे देखने गए। खादी आंदोलन उस समय शुरू ही हुआ था और बुनकरों को एक प्रकार की प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यद्यपि वे बुनते तो थे मिल का ही सूत, तथापि उन्हें आशा होने लगी थी कि अब हमारी तरक्की के दिन आने वाले हैं। सींगों की बनी चिकनी (शटल) ढरकियों से वे बुनते थे। हम ढरकियां खरीदना चाहते थे। हमने भाव पूछा। उन्होंने देखा कि ये पढ़े-लिखे देशभक्त लोग हैं। उत्साह में आकर बुनाई का काम करना चाहते हैं। ढरकियों की कीमतों का इन्हें कहां से पता होगा? सींग की ढरकी देखने में सुंदर होती है, इसलिए माकूल कीमत मांगने में हर्ज नहीं। उन्होंने एक ढरकी की कीमत छह रुपये मांगी। हममें से एक भाई कुछ जानकार थे। उन्होंने आठ आने बताए। मुझे कुछ धुंधली याद है कि अंत में हमने वह ढरकी कुछ आनों में ही खरीदी थी।

एक बार मैं पैदल यात्रा कर रहा था। एक दिन दूध लेने के लिए हलवाई की दूकान पर गया। मैंने यों ही पूछा, 'दूध में पानी-वानी तो नहीं मिलाया?' वह बोला, 'यह क्या कह रहे हैं आप? आज एकादशी है न?' मैंने कहा, 'तब, क्या दूसरे दिनों में पानी डाला जाता है?' वह कहने लगा, 'आटे में जिस प्रकार नमक डाला जाता है, उसी प्रकार व्यापार में कुछ असत्य जरूरी होता है; इसके बगैर व्यापार चल ही नहीं सकता।' जो लोग अपने-आपको वास्तविक रूप में धार्मिक समझते हैं, वे भी कहते सुने गए हैं कि व्यापार को धर्म के साथ नहीं मिलाया जा सकता। धर्म के समय धर्म और व्यापार के समय व्यापार हो। यों वे दान-धर्म करेंगे, कोई दुखी नजर आया तो दयाभाव भी दिखाएंगे, परंतु व्यवहार में सत्य को स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं होते।

इस प्रकार अपने नित्य के व्यवहार में जिन्हें असत्य का उपयोग करने की आदत हो जाती है, उन्हें कालेबाजार में कोई खास कालापन दिखाई नहीं देता। जिस राष्ट्र के बाजार में असत्य चालू सिक्के के समान है, उसके पतन की भी कोई सीमा है? हम मानते हैं कि दो सौ वर्ष तक पराधीनता में रहने का ही यह परिणाम है। फिर भी परिणाम चाहे जिस किसी का हो, परंतु इस नैतिक हानि की ओर ध्यान न देने से काम नहीं होगा।

मतलब यह है कि हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि आज हम अत्यंत धर्महीन हो गए हैं और जो भी उपाय-योजना करनी हो, बहुत सोच-समझकर, दूरदृष्टि से करनी चाहिए। केवल आतंक उत्पन्न करने वाले तात्कालिक उपाय से काम नहीं चलेगा। सारी समाज-रचना को बदलकर साम्य पर अधिष्ठित नई अर्थव्यवस्था करनी होगी। इतने से भी काम नहीं चलेगा। अपनी धार्मिक कल्पनाओं का भी हमें संशोधन करना होगा। केवल भूतदया न रखकर व्यवहार में हमें सत्य को स्थापित करना चाहिए। आज केवल व्यापार-व्यवसाय में ही नहीं, साहित्य, देश-सेवा और धर्म के क्षेत्र में भी असत्य उजले मुंह से घूम रहा है। वहां से उसे निकाल बाहर किया जाना चाहिए, नहीं तो इन सारे क्षेत्रों में जब तक उसका निर्भयता के साथ संचार होता रहेगा, केवल दंड के भय से अथवा भूतदया के नाम पर राष्ट्र पर छाया हुआ यह महान संकट टल नहीं सकेगा। समस्त विचारकों, समाज-सेवकों, धर्म-साधकों, शिक्षाशास्त्रियों, कार्यकर्ताओं और प्रबंधकों को मिलकर यह काम करना चाहिए। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

नशा मनुष्य को आध्यात्मिक चिंतन से शून्य बना देता है। काम, क्रोध, कायरता, क्रूरता, घुटन, टूटन और आत्म-अनियंत्रण आदि मानसिक रोग इसी के सहारे पल्लवित होते हैं। व्यक्ति का तन रुग्ण होने से मन भी विषैला हो जाता है। वह उन्मार्ग की ओर दौड़ने लगता है। इसीलिए नशेड़ी नशे के दौरान न अतीत की स्मृति कर सकता, न भविष्य की सुंदर योजना बना सकता और न वर्तमान को सुखपूर्वक जी सकता है। विधायक चिंतन भी नहीं कर सकता। •

◆ साध्वी शुभ्रयशा

नशा : काबू पाया जा सकता है

मनुष्य के जीवन का मूल्य मूक प्रकृति से करोड़ों गुना अधिक है, किंतु जब आदमी नशे का गुलाम बन जाता है, तब उसके अनमोल जीवन की उलटी गिनती प्रारंभ हो जाती है। अणुव्रत अनुशास्ता ने कहा—'नशे में व्यक्ति पागल बन जाता है। उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि मैं कहां हूं, क्या कर रहा हूं और क्या कह रहा हूं।' नशेड़ी के तन की कांति और मन की शांति लुप्त हो जाती है। नशा जहर है। विनाश की कहानी का आदि बिंदु है नशा। फिर भी आदमी नशा करता है, आखिर क्यों?

क्यों करता है आदमी नशा? कब, कहां, किसके द्वारा किया जाता है नशा? नशे के प्रेरक तत्त्व क्या हैं? इसके परिणाम क्या हैं? इसका शरीर, मन और कर्मजा शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है? नशेड़ी नशे की आदत को छोड़ क्यों देता है? कभी-कभी वह असीम क्यों हो जाता है? इसके नियंत्रक तत्त्व क्या हो सकते हैं?

ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका समाधान खोजा जा सकता है। अणुव्रत के उन्नत विचारों का क्रियान्वयन कर नशे की महामारी पर काबू पाया जा सकता है।

क्यों करता है आदमी नशा

जीवन का ध्येय है अनंत आनंद की प्राप्ति। एक रूप में नशा भी आनंद-प्राप्ति की खोज में उठा एक कदम है। मादक द्रव्यों का सेवन करने से एक बार मस्तिष्क में सुख के केंद्र सक्रिय हो जाते हैं। नशीले पदार्थों का इस्तेमाल करने से 'डोपोमाइन' नामक रसायन उद्दीप्त होता है जिसके कारण आनंद की अनुभूति कराने वाले स्राव स्रवित होने लगते हैं। एल.एस.डी. का सेवन स्वर्गिक सुखों का अनुभव कराता है। नशा आदमी को कुछ समय के लिए स्फूर्ति भी देता है। एक बार तो यह ताजगीभरी मस्ती देकर तनावों से मुक्ति दिला देता है। अभावों की अनुभूति तो होने ही नहीं देता। चिंता का हरण करता है। भय का निवारण भी करता है और दुखों से मुक्ति दिलाने का भ्रम भी कराता है। अल्पकाल के लिए प्रयोगकर्ता घुटन, टूटन और अवसाद की गिरफ्त से मुक्त हो जाता है। इसलिए एक बार नशे का सेवन करने के बाद व्यक्ति उसकी गिरफ्त में फंस जाता है और बार-बार उस स्थिति में जाने की इच्छा होती है।

कब, कहां, किसके द्वारा किया जाता है नशा

नशा कब? इस त्रिपदी की मीमांसा करना बहुत जटिल है। नशा करने का कोई निश्चित समय नहीं। चौबीस घंटों में कभी भी किया जा सकता है। कुछ व्यक्ति दिन्न में नशा करते हैं, कुछ रात में। वाहन-चालक अधिकांशतः रात्रि में शराब आदि नशीली वस्तुओं का प्रयोग करते देखे जाते हैं। ब्राऊन शूगर, कोकीन, हेरोईन आदि का नशा सत्ता, संपत्ति संपन्न लोगों के द्वारा किया जाता है। शादी, उत्सव, पार्टियों व क्लबों में भी दिन की अपेक्षा रात्रि का समय नशे के लिए चुना जाता है। इसके विपरीत गांजा, जर्दा, सिगरेट, तंबाकू, भंग, पान-पराग आदि हल्के नशे रात्रि की अपेक्षा दिन में अधिक किए जाते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार 16 से 35 वर्ष तक की उम्र के लोग नशाखोरी में अग्रणी हैं। वैसे देखा जाए तो 'काले कालं समायरे' का सूत्र नशे के लिए लागू नहीं होता। नशे के द्वार पर चौबीस घंटे में जब चाहे तब दस्तक दी जा सकती है।

नशा कहां? नशा करने का निश्चित स्थान नहीं है। क्षेत्र की सीमा में भी इसे बांधना कठिन है। श्मशान हो या अंतःपुर,

संसद हो या सुप्रीम कोर्ट, पार्क हो या पाठशाला, इसका सर्वत्र प्रवेश है। ट्रेन, ट्रक, टैक्सी, मारुति कार, वायुयान, बैलगाड़ी और घोड़ागाड़ी—नशा कभी भी, कहीं प र भी किया जा सकता है। घर, गली, चौराहा, चौपाल, स्टेशन, प्लेटफार्म, सिनेमाहॉल, रेस्टोरेंट, क्लब और होटल में जहां भी मन हुआ, बोतल खोली जा सकती है। खेत-खलिहान हो या दूतावास, हर मोड़ पर खड़ा आदमी जाम की प्याली थाम सकता है।

नशा कौन करता है? एकेंद्रिय से लेकर चतुरिंद्रिय प्राणी नशा नहीं करते हैं। पंचेंद्रिय में भी जलचर, खेचर और सभी स्थलचर प्राणी मनुष्य की तरह नशा नहीं करते। मनुष्य नशा करता है। उसके लिए न उम्र का लिहाज है, न पद की पाबंदी। बालक, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध सभी इसकी चपेट में हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक हर वर्ग इसमें सम्मिलित है। शिक्षक हो या शिक्षार्थी, पुलिसकर्मी हो या सैन्यकर्मी, नौकर हो या मालिक सभी बड़े शौक से इसे अपनाते हैं। 'पिओन से प्राइम मिनिस्टर' तक इसकी पहुंच है। यहां तक कि देव मंदिर में देवता को भी इसका भोग लगता है। जाति, वर्ण, वर्ग, लिंग और संप्रदाय के घेरे में इसे कैद नहीं किया जा सकता।

नशा : प्रेरक तत्त्व

नशे के घटक तत्त्व दो हैं : (1) मुख्य कारक (2) गौण कारक। इसका मूल कारण है स्वभाव से दूर विभाव में रमण करने की प्रकृति। बहिर्मुखी वृत्ति और चेतना का निम्नगामी होना। नशे के गौण प्रेरक तत्त्व अनेक हैं। रासायनिक असंतुलन, आहार का असंतुलन और परिपार्श्व के वातावरण का असंतुलन भी इसका हेतु बनता है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण, नशीली वस्तुओं का व्यवसायीकरण महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व हैं। इसका प्रमाण है—बड़ी-बड़ी सिगरेट कंपनियां जो प्रति वर्ष अरबों का लाभ कमाती हैं। इसी प्रकार की कुछ अन्य कंपनियां हैं जो जर्दा, चाकलेट, पान-पराग, गुटका, चुटकी आदि में नशीले पदार्थों का मिश्रण कर ग्राहक को बांध लेती हैं।

टूटते परिवार, बिखरते मनोभाव, बाजार की प्रतिस्पर्धा, अनवरत असफलता और तनाव नशे की वृत्ति को बढ़ावा देते हैं। तमाम समस्याओं का समाधान नशे में खोजने वाले लोगों की कमी नहीं है। नौकरी न मिली तो शराब, पदोन्नति न हुई तो शराब, पति-पत्नी में मन मुटाव हुआ तो शराब। यह शराब व्यक्ति को खराब कर डालती है।

विज्ञापन-संस्कृति हावी होती जा रही है और आज तो वह उपभोक्ताओं की जेब से पैसा निकालने में भी सक्षम है। सिगरेट, पान-पराग, गुटका, शराब आदि के विज्ञापन युवा मानसिकता को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। वे उनकी अंतर्भावनाओं को छूने वाले होते हैं। उदाहरण के लिए सिगरेट के विज्ञापन में एक युवती सिगरेट का कश लेती हुई कहती है—'कौन कहता है औरत मर्दों की बराबरी नहीं कर सकती?' ऐसे विज्ञापन युवा-मानस को गुमराह कर डालते हैं। ऐसे एक नहीं अनेक विज्ञापन हैं, जो युवा-मानस की पिच्यूटरी को फेल कर रहे हैं। दोहरी नीतियों से इन प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। एक ओर 'शराब-खराब' के नारे लगाए जाते हैं और दूसरी ओर अवैध तरीकों से शराब बनाने की प्रवृत्ति भी बेरोकटोक चलती है। नशीली वस्तुओं की तस्करी रंगे हाथों पकड़े जाने पर भी कोई ठोस कार्रवाई नहीं होती।

नशे का वैकल्पिक समाधान न होना और समुचित मार्गदर्शन का अभाव भी नशे की वृत्ति का पोषण करता है। समस्या है, कौन किसे कहे? कैसे कहे? अभिभावक और गुरुजन स्वयं नशे के जाल में फंसे हैं। ऐसी स्थिति में दृढ़तापूर्वक नशे की रोकथाम की प्रेरणा कौन दे? कभी-कभी शौक व साथी-संगी के साथ किया गया नशा भी आदत में बदल जाता है। वर्तमान युग में तो यह 'स्टेटस सिंबल' भी बन गया है। नशीली चीजों का बार-बार प्रयोग करने से स्नायु इसके दास बन जाते हैं और मस्तिष्क भी अपना नियंत्रण खो देता है।

नशा : परिणाम

आत्महत्या, अनाचार, अनैतिकता, आतंक और अमानवीय अपराधों का जन्म नशे की कोख से होता है। नशे के कारण प्रति मिनट दुर्घटनाएं होती हैं। होश संभालने से पहले ही बच्चे इसके आगोश में चले जाते हैं। विद्या से अर्जित विकास और वैभव को विद्यार्थी जन-विनाश में बदल देते हैं। बड़े-बड़े उद्योगपति नशे के महायज्ञ में अपने ऐश्वर्य की आहुति दे डालते हैं।

परिवार में एक व्यक्ति भी यदि नशेड़ी होता है, तो समूचे परिवार का सुख-चैन स्वाहा हो जाता है। बच्चे भूखे, वस्त्र-विहीन, दीन-हीन हो जाते हैं। उनके लिए शिक्षा और चिकित्सा दुर्लभ हो जाती है। स्त्री के अलंकरण गिरवी रख दिए जाते हैं तो मकान और दूकान नीलाम हो जाते हैं। अपने लोग पराए हो जाते हैं। समाज में नशेड़ी की कोई प्रतिष्ठा नहीं रहती। जीवन जिंदा लाश की तरह बोझिल हो जाता है।

नशा सर्वेंद्रिय संपन्न व्यक्ति को इंद्रिय विकल बना देता है। नशेड़ी आंख होते हुए भी सम्यक् नहीं देखता। कान होते हुए भी सुन नहीं सकता। वाणी का सम्यक् उच्चारण भी नहीं कर सकता। सुगंध व दुर्गंध में भेद नहीं कर सकता।

नशा : मन, शरीर और कर्मजा शक्ति पर प्रभाव

मानव शरीर प्रकृति का विलक्षण उपहार है। इसकी स्वस्थता के लिए विभिन्न जैविकी, भौतिक और जैव-रासायनिक क्रियाओं का सम्यक् समायोजन आवश्यक है। नशीले पदार्थों का बार-बार सेवन करने से यह समायोजन छिन्न-भिन्न हो जाता है। धूम्रपान आदि नशीले पदार्थों में कुछ ऐसे रासायनिक तत्त्व होते हैं, जो शरीर के लिए घातक होते हैं।

1. **निकोटिन**—सक्रिय तैलीय तत्त्व है। यह विषैला होता है। सर्प की जिह्वा पर इसकी एक बूंद रखने से सर्प मर जाता है।
2. **हाइड्रोसायनिक एसिड**—कड़वे बादाम का तेल होता है, जो जहरीला है।
3. **कार्बोनिक एसिड तथा सल्फरेटेड हायड्रोजन के अवशेष**—ये सभी तत्त्व शरीर के संस्थानों को कमजोर व रुग्ण बनाते हैं।

पहले जर्दा, भंग, तंबाकू, शराब, सिगरेट आदि अधिक प्रचलित थे। आजकल चरस, हेरोईन, डेक्साड्रीन, लिबियम, मैंड्रक्स, हसीस, मैपोड्रन, वैलियम, कोकीन, मार्फिन, ब्राऊन शूगर, एल.एस.डी., पी.सी.पी. आदि का प्रचलन कल्पनातीत हो चुका है। तंबाकू के कारण श्वसन संस्थान के सारे अवयव समय से पहले ही निष्क्रिय हो जाते हैं। मुंह का कैंसर, श्वास प्रणाली, फेफड़े का कैंसर व दमा का मुख्य कारण यही है। 65 वर्ष से पहले दिल के दौरे का कारण भी तंबाकू है। सिगरेट पीने वाले पुरुष नपुंसक और स्त्रियां, बांझ हो जाती हैं। धूम्रपान में पाया जाने वाला निकोटिन कोशिकाओं और ऊतकों को नष्ट कर देता है। सिगरेट के धुएं से 1:8 मिनट आयुष्य कम हो जाता है। शराब का अति सेवन पाचन तंत्र व उत्सर्जन तंत्र के लिए खतरे की घंटी है। कोकीन, ब्राऊन शूगर जैसे तीव्र नशे मस्तिष्क व चित्त, दैहिक रोगों को जन्म देते हैं। एल्कोहल के अति प्रयोग से श्वास प्रकोष्ठ नष्ट हो जाते हैं। लीवर व गुर्दे कमजोर हो जाते हैं। उच्च रक्तचाप, मधुमेह जैसे गंभीर रोग हो जाते हैं। नशा शरीर के प्रतिरक्षा तंत्र को कमजोर करता है। सभी रोगों के आगमन का मार्ग खोल देता है।

नशा मनुष्य को आध्यात्मिक चिंतन से शून्य बना देता है। काम, क्रोध, कायरता, क्रूरता, घुटन, टूटन और आत्म-अनियंत्रण आदि मानसिक रोग इसी के सहारे पल्लवित होते हैं। व्यक्ति का तन रुग्ण होने से मन भी विषैला हो जाता है। वह उन्मार्ग की ओर दौड़ने लगता है। इसीलिए नशेड़ी नशे के दौरान न अतीत की स्मृति कर सकता, न भविष्य की सुंदर योजना बना सकता और न वर्तमान को सुखपूर्वक जी सकता है। विधायक चिंतन भी नहीं कर सकता।

मानव शरीर में कर्मजा शक्ति का मूल स्रोत है मांसपेशीतंत्र। तीव्र नशों का पुनः-पुनः सेवन करने से मनुष्य का क्रियातंत्र निष्क्रिय होने लगता है। मस्तिष्कीय कोशिकाओं का अति मात्रा में अपव्यय होता है। ज्ञानवाही, क्रियावाही तंतुओं का कार्य सम्यक् व शीघ्र नहीं हो सकता। मस्तिष्क से शरीर की ओर व शरीर से मस्तिष्क की ओर सूचना विनिमय करने वाले स्नायुओं के बीच पाए जाने वाले रसायन की क्षमता कम हो जाती है।

सचमुच! नशा अवगुणों को आवृत करने वाला एक सलवटदार पर्दा है। जिसने समाज में बुराई के पलड़े को वजनदार बनाया है। अच्छाई का पलड़ा भारशून्य हो गया है। संस्कृति जिसकी ओट में विकृति में बदल रही है और विकास विनाश में। इसलिए कहा गया है; 'जहां शैतान नहीं जा सकता हो वहां शराब को भेज दो'—विनाश हो जाएगा।

अणुव्रत का एक नियम है—'मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करूंगा।' अणुव्रत अनुशास्ता ने इस संकल्प को आत्मसात करने की प्रक्रिया का भी निर्देश दिया। प्रेक्षाध्यान के माध्यम से इससे छुटकारा पाने के प्रयोग निर्दिष्ट किए हैं। कायोत्सर्ग, दीर्घश्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वासप्रेक्षा, अप्रमाद केंद्र पर नशामुक्ति के प्रयोग, अनुप्रेक्षा और रंगों के साथ स्थान-विशेष पर ध्यान करके नशे की आदत से मुक्त हुआ जा सकता है। तीव्र नशामुक्ति के लिए औषध सेवन भी कार्यकारी है। ये सभी प्रयोग तभी कार्यकारी हो सकते हैं जब बदलने वाले में बदलने की तीव्र अभीप्सा हो। साथ ही साथ प्रयोगों की नियमितता व निरंतरता भी इसमें सहयोगी है। ❖

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय शरीर और इंद्रियों के बंधन ढीले पड़ गए होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत में खिंच जाता है।

—सम्पूर्णानन्द

अब वह गधी को खड़ी करके लगा मूसल बजाने। बस फिर क्या था कानी गधी ने खना-खन नांद भर दी चांदी के सिक्कों से। यह देख तीनों बड़ी रानियां जल उठीं और तीनों भाई भी। अब तीनों भाईयों ने वह गधी लेने की सलाह बनाई। और सौ-सौ रुपये मिला कर गधी ले ली। अब तो बड़े खुश थे कि मालामाल हो जाएंगे। उन्होंने भी वैसा ही किया मगर कुछ होता तो मिलता। ●

बालकथा

◆ राज रानी

नौला भाई

बहुत दिनों की बात है कि विदर्भ में एक राजा राज्य करता था। उसके चार रानियां थीं, मगर संतान एक के भी नहीं थी। राजा को बस एक यही चिंता थी कि किसी तरह उसके संतान उत्पन्न हो जाए। एक बार वह शिकार खेलने गया तो घर पर एक साधु आ धमका। महलों में चारों रानियां शतरंज की चालों में मस्त थीं। उन्होंने साधुजी की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। वह साधु बहुत तपी था। साधु बहुत क्रुद्ध हुआ। चारों को शाप देकर अन्तर्धान हो गया।

उधर शिकार में सारे दिन राजा परेशान होने के बाद भी कोई शिकार न मार सका और घोड़े पर चढ़कर महलों को वापस लौट आया। महलों में पहुंचते ही एक बुढ़िया आई और रोते हुए उसने फरियाद की, 'राजाजी! मेरे पुत्र को डाकुओं ने मार डाला और सब डाकू मुझे लूटकर मेरे बेटे की बहू तथा मेरी अठारह वर्षीया लड़की को उठाकर ले गए।'

वह राजा तो स्वयं ही लूटपाट करता था। सारे राज्य की लड़कियों को बुरी निगाह से देखता था। एक बार उसने एक ऐसी लड़की का अपहरण कराया, जो मां की बहुत भक्त थी। मां (दुर्गा) ने उसकी इज्जत बचाई, ठीक उसी समय उसके गुरुजी साधु महाराज आए और बोले, 'राजन्! मुझे तुमसे ऐसी उम्मीद न थी कि तुम अपने पिता के मरने के पश्चात् राज्य में इस प्रकार के पाप करोगे!'

राजा को साधु की बात सुनकर बहुत खेद हुआ। सब बुरी बातें छोड़ दीं। वह मां की पूजा में लीन हो गया। उस लड़की को आदर के साथ विदा किया। इसके पश्चात् अपने गुरु के कहने से वह जंगल में तीन मास का घोर तप करने चला गया। उसके पीछे उसके गुरु ने राज-काज संभाला। राज्य में हो रहे पापों और अन्याय सब को नष्ट किया। उसने सबको प्रेम-भाव और मां की भक्ति में लीन कर दिया।

तीन मास पश्चात् जब राजा वापस आया तो साधु ने उससे हवन और यज्ञादि कराए। अब राजा सब बातें छोड़ चुका था। वह रात-दिन मां की पूजा करता रहता था। उधर गुरु महाराज ने उसे एक दिन अपना सोटा (डंडा) देकर कहा, 'जा बेटा! आज दुर्गा मां और मैं तेरी भक्ति से बहुत प्रसन्न हैं। तुम आम के पेड़ से चार आम तोड़कर ला। उन्हें चारों रानियों को खिला देना। तू अपने राज्य में जा और किसी की इज्जत और माल आदि मत लूटने दे। राजा ने साधुजी के समीप ही प्रतिज्ञा की कि अब मेरे राज्य में सब सुखी रहेंगे और इतना कहकर राजा सोटा ले आम के पेड़ के नीचे पहुंच गया तथा चार आम तोड़ लाया। आम तोड़कर गुरुजी का सोटा वापस कर दिया। गुरुजी से आज्ञा लेकर अपने राज-महल में आ गया। गुरुजी की आज्ञानुसार चारों रानियों को उसने एक-एक आम देकर कहा, 'यह मेरी भक्ति का प्रसाद है इसे खा लेना।'

चारों रानियों ने एक-एक आम लिया और माथे से लगाकर महलों में चली गईं। चारों स्नान तथा पूजा-पाठ से निवृत्त होकर आम खाने बैठी। इसी समय सबसे छोटी रानी को कोई काम याद आ गया। वह काम में लग गई। उसने अपना आम एक आले में रख दिया। वह आम एक नेवले ने थोड़ा सा काटकर खा लिया। रानी काम से निबट कर आम खाने लगी तो उसने देखा कि यह आम तो जूठा है, किंतु फिर भी पति की तपस्या का प्रसाद मानकर जूठा आम ही खा लिया।

कुछ समय पश्चात् रानियां गर्भवती हुईं और नौ मास पश्चात् ही तीनों रानियों के तो सुंदर राजकुमारों ने जन्म लिया, लेकिन सबसे छोटी रानी के एक नेवले के बच्चे ने जन्म लिया (क्योंकि आम नेवले ने ही जूठा किया था)।

समय बीतता गया। चारों युवा हो गए। तभी से उन्हें शिकार आदि में रुचि होने लगी। उधर नेवले भाई तो सीधे-सादे थे ही। उन्हें क्या मतलब शिकार से? क्या मतलब राज्य से? वह तो सारे दिन इधर-उधर घूमता रहता।

कुछ समय पश्चात् जब तीनों भाई कमाने-खाने के लिए बाहर जा रहे थे तो नौला भाई भी उनके पीछे-पीछे चल दिया। नेवले को देखते ही तीनों ने भगा दिया। लेकिन नेवला भागा नहीं, कहीं जंगल में दुबक गया। लेकिन रहा उन तीनों के पीछे-पीछे। कुछ दूर जाकर अमरूदों का बाग आया तो तीनों ने नेवले को आवाज लगाई, 'नेवले भाई आओ, नेवले भाई आओ।' नेवला बेचारा, खुशी-खुशी आ गया। उसके आते ही तीनों बोले, 'नेवले भाई, क्या आज अमरूद नहीं खिलाओगे?' सुनते ही नेवला पेड़ पर चढ़ गया और पेड़ पर बैठकर अमरूद तोड़-तोड़कर नीचे डालने लगा। उन तीनों ने पेट-भर अमरूद खाए। तीनों आगे को चले, नेवला भी साथ चल पड़ा। लेकिन तीनों को उसका साथ चलना सहन नहीं हुआ। उसे मार-पीट कर फिर भगा दिया। नेवला रोता-रोता पीछे लौट आया। कुछ दूर आकर वह फिर रुक गया। वे तीनों आगे चले गए। नेवला यह देखकर फिर उन तीनों के पीछे-पीछे हो लिया।

फिर कुछ दूर पर बेरियां (बेर के पेड़) खड़ी दिखाई दीं, तो तीनों ने फिर उसे बुला लिया और बेरी पर चढ़ा दिया। बेचारा पके-पके बेर उन्हें खिलाता, कच्चे-कच्चे आप खाता रहा। जब बेरों से तीनों की तबीयत भर गई, तो फिर उसे मार-पीट कर भगा दिया। नेवला कुछ नाराज होकर एक गांव में घुस गया। वह दो-तीन दिन भूखा-प्यासा इधर-उधर घूमता रहा। लेकिन उसके तीनों भाई राजकुमार व्यर्थ ही घूम-घाम कर घर वापस आ चुके थे।

इसी प्रकार एक दिन किसी गांव में वह, 'नौकरी करवा लो—नौकरी करवा लो' की आवाज लगा रहा था तो एक कुम्हार के बच्चे उसे ले गए। कुम्हार ने भी कृपा कर उसे रोटी-कपड़े पर नौकर रख लिया। नेवला सारे दिन गधे चराता और घास काट कर लाता। बस यही उसकी नौकरी थी। कुछ दिनों बाद कुम्हार-कुम्हारी अपनी रिश्तेदारी में चले गए और बच्चों को नेवले भाई के पास ही छोड़ गए।

अब नेवले की चालाकी देखो। वह एक-दो दिन तो सही रहा। रात को कुम्हार का लड़का बोला, 'नेवले भाई! मैं तो शौच जाऊंगा।' नेवले ने कहा, 'भाई देख, शौचे तो मूते मत और मूते तो शौचे मत।' इस तरह वह बच्चों को परेशान करने लगा, आखिर बच्चे बोले, 'नेवले भाई, बात क्या है? बताओ तो सही।' तब नेवला बोला, 'यह बताओ तुम्हारे माता-पिता का धन कहां रखा है?' बेचारे बच्चों ने सब बता दिया। तब नेवले ने सारा चांदी-चांदी का ही रुपया निकाला और एक कानी गधी को घास के साथ खिला दिया। भाग्य की बात, उसी दिन कुम्हार-कुम्हारी गांव से घर वापस आ गए। उनके आने पर सुबह होते ही नेवला बोला, 'अब मैं अपने घर को जाता हूं।' तो वह दोनों बोले, 'भाई! कुछ लेता जा। दूर जाएगा थक जाएगा। कोई गधा ही लेजा।' बहुत कहने पर उसने कानी गधी ले ली और चल दिया।

उधर जब वह अपने घर पहुंचा तो देखा कि उसके पिता स्वर्ग सिधार गए। राज-काज नष्ट-भ्रष्ट हो चुका। संतान पाते ही राजा ने जब कुकर्म, पाप आदि शुरू कर दिए तो मां और गुरु ने उसको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तीनों रानियां और राजकुमार भी दर-दर की ठोकरें खाने

लगे। चौथी रानी पूजा-पाठ करती थी। वह सब-कुछ लुटने-पिटने के पश्चात् भी ठीक थी। वह नेवले को देख कर काफी रोई कि मेरा बेटा कानी गधी पर चढ़कर आया है। नेवले ने कहा, 'मां! रो मत! जा कुम्हार के यहां से कोरी नांद ला। एक मूसल दे और ले दुर्गे का नाम। सवा हाथ पृथ्वी लीप। अभी मालामाल कर दूंगा।' नेवले की मां ने वैसा ही किया।

अब वह गधी को खड़ी करके लगा मूसल बजाने। बस फिर क्या था, कानी गधी ने खना-खन नांद्र भर दी चांदी के सिक्कों से। यह देख तीनों बड़ी रानियां जल उठीं और तीनों भाई भी। अब तीनों भाइयों ने वह गधी लेने की सलाह बनाई। और सौ-सौ रुपये मिला कर गधी ले ली। अब तो बड़े खुश थे कि मालामाल हो जाएंगे। उन्होंने भी वैसा ही किया मगर कुछ होता तो मिलता। गधी मर गई। मरते दम एक खोटा रुपया उसके मुख से न निकला। तीनों रोते-पीटते नेवले के पास गए। नेवला बोला, 'मेरी गधी दे दो। मैं तुम्हारे पैसे दे दूंगा।' खैर कहा-सुनी में लोगों ने नेवले का पक्ष लिया।

बच्चो! गंदे मनुष्य चाहे राजा हो या अमीर, संसार से शीघ्र चले जाते हैं। गरीबों की आहें उनको डस जाती हैं और सब नाश कर देती हैं। इसलिए पापों से बचकर ही हर कार्य करना चाहिए। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों- कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोर और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के अगस्त, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के अगस्त अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 दिसम्बर, 2000 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम जनवरी, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

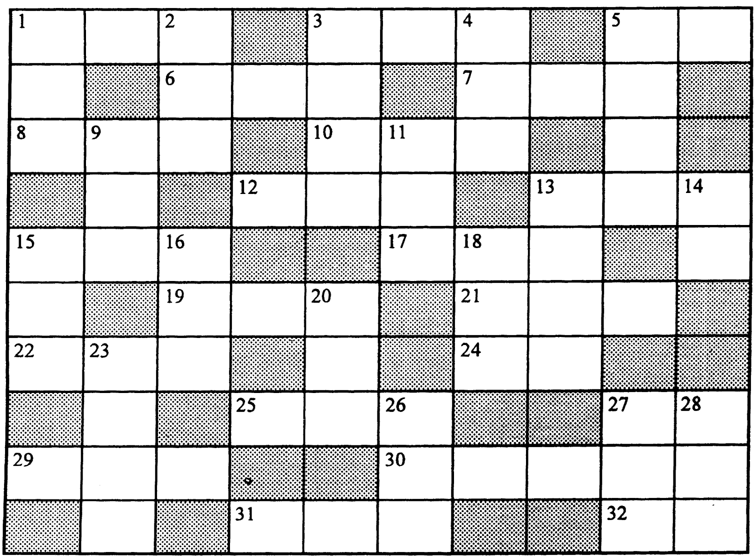

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली - 0009

नाम प्रतियोगी .... उम्र............

पूरा पता ....

....

....

बाएं से दाएं

1. ....के आने पर अल्योशा ने अपने हाथों से , [3]
3. ....नाट्य आज भी अपने मूल रूप में दक्षिण में प्रचलित है। [3]
5. पृथ्वी बीज,.......बीज, प्रणव बीज, मारुत बीज, [2]
6. पर पहले.......की थैली मुंह में से निकालकर नीचे रख दो। [3]
7. सत्याग्रह के समन्वित तेज से दीप्त.......की होगी। [3]
8. बहुतेरे नीति के.......याद करते हैं, [3]
10. वे एक.......और आगे बढ़ते हैं, [3]
12. सूर्य का.......अनुग्रह। रेतीले टीले। [3]
13. आचार्य भारमलजी ने.......सरल भाव से उत्तर दिया। [3]
15. परलोक में.......में लाना चाहिए। [3]
17. एक.......दौड़ने के साथ ही वे सामने आ उपस्थित होंगी। [3]
19. ....गरम खाना सहेज कर रखती। [3]
21. इतिहास ने उसे भौतिकवादी.......में ला पटका है, [3]
22. मित्र के साथ तो सच्चे.......और दुश्मन से दगाबाजी करना, [3]
24. ज्ञान को कर्म से अलग.......दिया। [2]
25. परमेश्वर को भी.......प्रणाम करते हैं। [3]
27. एक धर्म.......वाद बन जाता है। [2]
29. सारा.......दुख रहा है, मगर कोई खास बात नहीं। [3]
30. नीति-विषयक प्रचलित विचार.......नहीं कहे जा सकते। [5]
31. समानधर्माओं का चरित्र.......करने की लाइलाज कुटेव पड़ी दीखती है। [3]
32. लेकिन.......उसकी अपनी पूंजी होती, [2]

ऊपर से नीचे

1. ....चक्षुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। [3]
2. इस.......विरोधी धर्म को अपने को बुद्धिसम्मत बताने, [3]
3. एक हंडिया में दूध.......उसे पादरी की बीमार पत्नी को देने के लिए भेजा। [4]
4. 3, 10, 7 अंक के खाने भरने से 4 अंक का खाना स्वतः भर जाएगा। [3]
5. व्यक्ति के जीवन में आरोह.......के प्रसंग उपस्थित होते रहते हैं। [4]
9. प्रकृति-विजय की लालसा को उसकी.......परिणति तक पहुंचा देना। [3]
11. इच्छाओं के.......या जीवन को पापमूलक मानकर, [3]
13. वह नियंत्रण विदेशी.......का हो अथवा स्वदेशी सरकार का। [4]
14. ....एवं वायु तत्त्व वाले मंत्र सौम्य कहलाते हैं। [2]
15. ....ज्ञान को कर्म से अलग समझेंगे। [3]
16. यथार्थवाद ही सत्य लगने लगे तो ऐसा.......लाजिमी है। [3]
18. ....और अजातशत्रु जैसे राजर्षि वेदांत के अनुयायी अवश्य थे। [3]
20. ....वह बात क्या है, [3]
23. मुझे तो इस बात से सरोकार है कि मैं.......सत्य की, [4]
26. ....में वर्षा नहीं हुई। [3]
27. विद्या विवादाय धनं....... [3]
28. इसी.......मेरे पास पैसा न हो, [3]

जैन भारती पाठक पहेली - 0007

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 प्र	या	2 स		3 प	रि	4 हा	र		5 क
ती		6 क्ष	णि	क		र		7 ध	र्म
8 त	9 मा	म		ड़		10 क	थ	न	
	न		11 दि	वा	12 क	र		13 वा	14 द
15 प्र	व	16 च	न		वि			17 न	या
ति		र्चा		18 नि	रा	19 शा			लु
का			20 हि		21 ज	न		22 आ	
23 र	24 ह	क	र				25 न	ग	26 र
	न		ण		27 श	री	र		च
28 मा	न	ते		29 मु	क्ति		30 क	र	ना

प्रथम चयनित विजेता—डालमचंद बोथरा, इलाहाबाद

अन्य दस चयनित विजेता

1. नवरतनकुमार मालू, सुपोल
2. श्वेता छाजेड़, पचपदरा सिटी
3. ज्योति दूगड़, ब्यावर
4. गौतमचंद धिंगड़, होसकोटे (कर्नाटक)
5. चंदा सिंघवी, आशाहोली (राज.)
6. साधना पी. जैन, केसूर (म.प्र.)
7. उदयचंद सिंघी, लाडनूं
8. दिनेशकुमार चंपालाल जैन, इचलकरंजी
9. मैना देवी नाहटा, जयपुर
10. रवि डाकलिया, गंगाशहर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

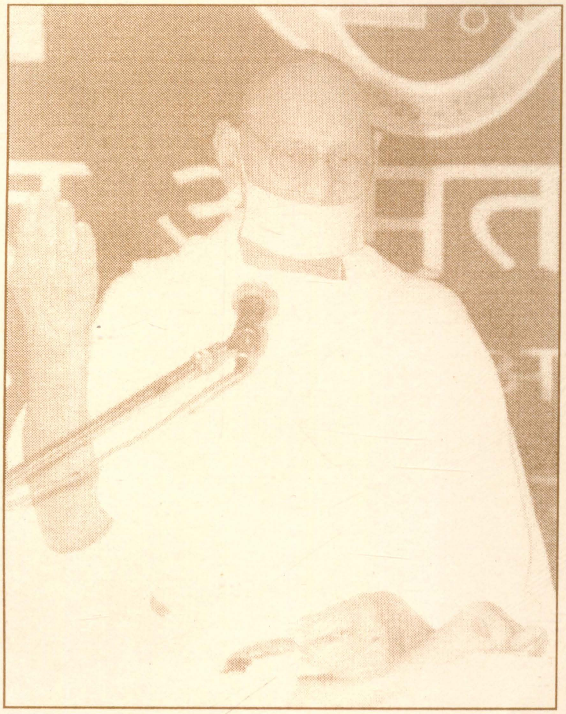

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती. नवम्बर. 2000 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/2000

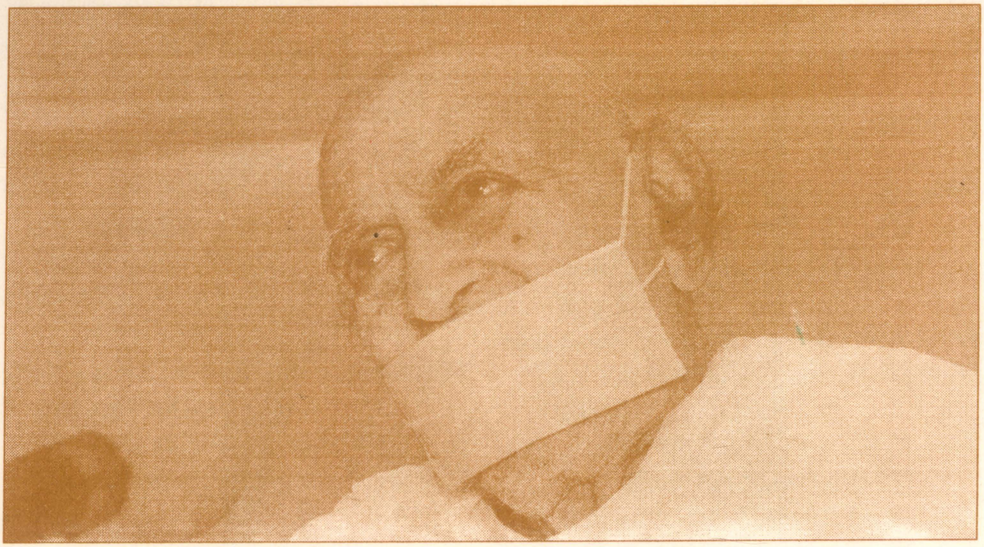

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

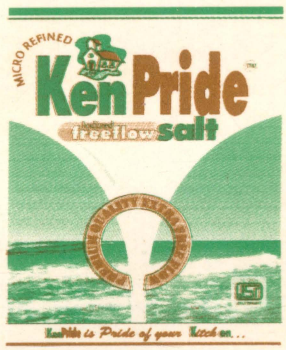

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)
Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
E-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।